संस्थापक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी—महाराज मण्डलेश्वर

हरहर महादेव शम्भो काशी-विश्वनाथ गङ्गे ।
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शङ्कर ।
हर हर शङ्कर दुःखहर शङ्कर सुखकर भयहर हर शङ्कर ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे ! नाथ नारायण वासुदेव ।
श्रीमन्नारायण नारायण नारायण, श्रीमन्नारायण नारायण नारायण ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे, हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

वार्षिक मूल्य
भारत में केवल
हिन्दी २) गुजराती
सहित हिन्दी २॥)
विदेश में ४) रु०

शिवनामावलि

महादेव ! शिव ! शंकर ! शम्भो ! उमाकान्त ! हर ! त्रिपुरारे ! ।
मृत्युञ्जय ! वृषभध्वज ! शूलिन् ! गङ्गाधर ! मृड ! मदनारे ! ॥
हर ! शिव ! शंकर ! गौरीशं ! वन्दे गंगाधरमीशम् ।
रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरनाथम् ॥
जय शम्भो ! जय शम्भो ! शिव ! गौरीशंकर ! जय शम्भो ! ।

साधारण प्रति
भारत में ≡)
विदेश में ।-)

पढ़िये और ध्यान दीजिये

जिन महानुभावोंने इस चतुर्थ वर्षका चन्दा (हिन्दी केवल २) रु० गुजराती सहित २॥) रु०) मनीआर्डरसे नहीं भेजा है, तथा कार्यालयमें निषेधका पत्र भी नहीं दिया है, उनको कृपया आगामी वी० पी० अवश्य छुड़ानी चाहिये।

आपको विदित ही है कि—विश्वनाथ निःस्वार्थभावसे केवल-धर्म प्रचार एवं आध्यात्मिक ज्ञानोन्नतिके लिये ही निकाला जा रहा है। कीमत भी कम है, और किसी विज्ञापन आदि की आमदनी भी नहीं है, इसलिये विश्वनाथ प्रेमियोंसे प्रार्थना है कि—कमसे कम एक-एक, दो-दो अन्य ग्राहक बनानेकी चेष्टा करें। मनीआर्डर एवं वी पी० के रुपये भेजनेका पूरा पता—

स्वामी बालानन्दजी विश्वनाथ व्यवस्थापक
अपारनाथमठ, ढुण्ढिराज गणेश बनारस सिटी

ग्रा०नं०..........

विषय सूची

अनेक धन्यवाद

श्रीमान् ब्रह्मचारी चैतन्यानन्दजी भूतपूर्व पं० धर्मदत्तजी, श्रीमान् ब्र० भगवान् चैतन्यजी श्रीमान् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज, श्रीमान् ब्र० शिवचैतन्य जी भिक्षुक, श्रीमान् ब्र० नारायणजी श्रीमान् ब्र० लक्ष्मणानन्दजी, तथा श्रीमान् ब्र० रामानन्दजी प्रभृति महानुभावोंको विश्वनाथके सभी सञ्चालक एवं संरक्षकोंकी तरफसे हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है, आप महानुभाव निष्कामभावसे विश्वनाथका जनता में प्रचार कर रहे हैं और अच्छी तादादमें विश्वनाथ के ग्राहक बनाये हैं, और भविष्यमें भी बनाते रहेंगे, ऐसा पूर्ण विश्वास है। भगवान् विश्वनाथ आप लोगोंकी ऐहिक, पारलौकिक, एवं पारमार्थिक समुन्नति करे, यही भगवान्से विनम्र प्रार्थना है।

विश्वनाथ आश्रम और शतकोटि मन्त्रेश्वर महादेवका मंदिर

काशीमें पंचक्रोशीके अन्दर एक सुन्दर विशाल आम्र आदि वृक्षोंसे सुशोभित "शत कोटि मन्त्रेश्वर विश्वनाथ महादेवका मन्दिर बनानेके लिये तथा महात्माओंके निवासार्थ एकान्त शान्त बगीचा लिया गया है। इसी बगीचेमें पूज्यपाद आचार्य प्रवर श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज महामण्डलेश्वर विराजमान हैं। इसका "विश्वनाथ आश्रम" नाम रखा गया है मन्दिर बनानेके लिये ईंटें बनाई जा रही हैं। और पत्थरका विचार हो रहा है। मन्दिरका नकशा तैयार हो गया है। इस आश्रममें दो सुन्दर स्वादु शीतल जलके कूप हैं। बगीचेमें प्रथमसे छोटे दो और शंकरजीके मन्दिर बने हुए हैं—इन दो मन्दिरोंका भी जीर्णोद्धार किया जायगा, इत्यादि इस पवित्र कार्य करनेके लिये श्री स्वामीजी महाराजका चातुर्मास काशीमें ही होगा। पता—विश्वनाथ आश्रम—

ठि० चुप्पेपुर (शिवपुर रोड) बनारस कैन्ट

महामण्डलेश्वर महाराज तथा सम्पादकजी महाराज

महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज हरिद्वारसे काशीमें आ गये हैं। और बाहर एकान्तमें शिवपुरके बगीचेमें—जो ॐ नमः शिवाय बैंकका मन्दिर बननेके लिए लिया गया है—इसीमें निवास कर रहे हैं।

श्री १०८ मण्डलेश्वर श्री महेश्वरानन्दजी महाराज विश्वनाथ सम्पादक हरिद्वार श्री १०८ स्वामी सूरतगिरिजी महाराजके बंगलेमें गर्मीयोंमें निवास कर रहे हैं, बाद धर्म प्रचारार्थ चातुर्मासमें अन्यत्र प्रयाण करेंगे।

खण्डनखण्डखाद्यकी संस्कृत 'शारदा' टीका

शुभसूचना! अपूर्व अवसर!! अलभ्यलाभ!!!

सुप्रसिद्धविद्वच्छिरोमणि परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी शंकरचैतन्यभारतीविरचित 'खण्डनखण्डखाद्य' की "शारदा" टीकाका पूर्वार्द्ध छपकरतैयार हो गया। यह पुस्तक केवल वेदान्तके नहीं बल्कि सर्वदर्शन एवं सर्वसम्प्रदायके विद्यार्थी और अध्यापकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी है। इसमें मूलके गम्भीरभावोंका स्पष्ट एवं परिष्कृतरूपसे उद्घाटन किया गया है। कीमत एक भागका ३) रु० ॥।) कमीशन काटाजायगा, पोस्टेज अलग। इसकी उपयोगिता पुस्तक देखनेसे विद्वान् स्वयं समझ जायेंगे। जल्दी कीजिये नहीं तो दूसरे संस्करणकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पता—'विश्वनाथ' पत्र कार्यालय.
अपारनाथ मठ, दुण्ढिराज गणेश, बनारस सिटी।

शंकराचार्य जयन्ति महोत्सव

अहमदाबाद संन्यास आश्रममें ब्रह्मचारी श्री पूर्णचैतन्यजीके उत्साहसे वैशाख शुक्ल पंचमीको श्री शंकराचार्य जयन्ति महोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया गया। बड़े बड़े विद्वानोंके भाषण तथा आश्रमके चारों तरफ सवारी निकाली गई। इसी प्रकार त्रयोदशीके दिन भी श्रीनृसिंह जयन्ति महोत्सव बड़े समारोहके साथ मनाया गया। वर्तमानमें श्री स्वामी हरनामगिरिजी महाराज संन्यास आश्रममें कथा कह रहे हैं। श्री १०८ स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज भी ज्वालामुखी देवीजीकी यात्रा कर पंजाबमें धर्म प्रचार कर रहे हैं कुछ दिनोंमें अहमदाबाद पधारेंगे।

बम्बई माटुंगावाले स्वा० विद्यानन्दजीका कैलासवास

स्वनामधन्य श्री १०८ स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराजने अपने जीवन कालमें मुमुक्षुमण्डल तथा साधु समाजकी जो सेवायें की हैं वह सर्व को विदित ही हैं। आपका जीवन भवदुःख कातर जीवोंके ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नतिके लिए ही था। आपकी विशाल—सौम्य—मूर्तिके दर्शनसे तथा सरल सुन्दर उपदेशसे सभी प्राणी शान्ति प्राप्त करते थे। आप वेदान्त दर्शनके अच्छे अनुभवी विद्वान् थे तथा अध्यात्म विषयके कुशल वक्ता थे। यह बम्बई वासियोंके बड़े सौभाग्यका विषय था कि—आप पञ्जाब प्रान्तके पट्टीके महन्त होते हुए भी गत ११ वर्षोंसे ज्ञानेश्वर मठ माटुंगा बम्बईमें महन्त रूपसे रहते हुए स्थानीय जनसमाजको अलभ्य सत्संगका लाभ दे रहे थे। स्वयं कष्ट सह कर दूसरोंको सुख पहुँचाना आपका स्वभाव था आपके उपदेशका इतना अच्छा प्रभाव पड़ता था कि—कितने ही ईश्वर विमुख नास्तिक साधु-निन्दक लोग भी कालान्तरमें महात्माओंके एवं ईश्वरके अनन्य भक्त हो जाते थे। आप गत कुम्भ पर्वके अवसर पर हरिद्वार थे। आपने इस पवित्र पुण्यकालमें विशाल साधु समाज को यथेष्ट भण्डारा दिया था तथा हृषीकेश कैलास आश्रममें रुद्रयज्ञ पूर्वक एक भण्डारा दिया था। आप देहावसान के पूर्व केवल ६ दिन ज्वरसे पीड़ित रहे गतगुरुवार २८ अप्रैल चतुर्दशी रात्रि १० बजे पद्मासन बांधकर बैठ गए और भद्रामुद्रा धारण कर ॐकारका स्मरण करते हुए इस नश्वर शरीरको छोड़कर ब्रह्मलीन हो गए। इस दुःखद समाचारको पाकर अनेक सद्गृहस्थ तथा साधु समाज एकत्रित हो गया, और एक बड़े जुलूसके साथ विधिपूर्वक श्री भागीरथी गंगामें जलसमाधि दे दी गई। आपकी षोडशी वैशाखसुदी पूर्णिमा तदनुसार १४ मईको हो गई है।

पुस्तक ४ } काशी, ज्येष्ठ १९९५ मई १९३८ { अंक ४

महात्माओंका आदर्श

बहता पानी निर्मला, बँधा गन्दला होय ।
त्यों साधु रमता भला, दाग़ न लागे कोय ॥
दाग़ न लागे कोय, जगतसे रहे अलहदा ।
राग-द्वेष युत प्रेत न, चित्तको करे विच्छेदा ॥
कहे 'गिरधर' कविराय, शीतउष्णादिक सहता ।
होय न कहूं आसक्त, यथा गंगाजल बहता ॥
रहनो सदा इकन्तको, पुनि भजनो भगवन्त ।
कथन-श्रवण अद्वैतको, यही मतो है सन्त ॥
यही मतो है सन्त, तत्त्वको चिन्तन करनो ।
प्रत्यक् ब्रह्म अभिन्न, सदा उर अन्तर धरनो ॥
कहे 'गिरधर कविराय' वचन दुर्जनको सहनो ।
तजके जन समुदाय, देश-निर्जनमें रहनो ॥

प्रभुसे विनय

क्या मुखलै विनती करौं, लाज आवत है मोहिं ।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहिं ॥
अवगुन मेरे बापजी बकसु गरीब निवाज ।
जो मैं पूत-कपूत हौं, तऊ पिताको लाज ॥
विनवत हौं कर जोरिकै, सुनिये कृपा-निधान ।
साधुसंगति सुख दीजिये, दया गरीबी दान ॥
'नारायन' निज-हियमें, अपने दोष विचार ।
ता पीछे तू औरके, औगुन-भले निहार ॥
बन्दे तू कर बन्दगी, तौ पावै दीदार ।
औसर मानुष-जन्मका, बहुरि न बारम्बार ॥
'सुन्दर' जो गाफिल हुआ, तो वह साँई दूर ।
जो बंदा हाजिर हुआ, तो हाजरॉ हजूर ॥

यह कौन कहता है

(लेखक—ब्रह्मनिष्ठ परमहंस स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

(१)

यह कौन कहता है कि—मत कर मातु पितु की चाकरी।
सेवा करेगा, क्यों न तू, जब मातु पितु सेवा करी॥
माया प्रकृति है मातु तव, मायेश तेरा बाप रे।
सब में उन्हें ही देख तू कट जांयगें सब पाप रे॥

(२)

यह कौन कहता है कि—तू मत दारसे संबंध कर।
श्रुति कह रही विस्पष्ट है, मत तन्तुका विच्छेद कर॥
आसक्त मत हो नारिमें, उत्पन्न शुभ सन्तान कर।
ईश्वर भजन सिखलाय उनका आपका कल्याण कर॥

(३)

यह कौन कहता है कि—तू धनकी कमाई मत करे।
खेती न कर व्यापार मत कर, सेवकाई मत करे॥
उधम विना इस देहका निर्वाह नांही होयगा।
धनको कमा दानादि कर नांही कभी तू रोयगा॥

(४)

यह कौन कहता है कि—तू घरवार तजकर भाग रे।
निज धर्मका उत्साहसे, मत दीन हो मत मांग रे॥
अपना न कुछ भी मान तू विश्वेशका सब जान रे।
मत रागकर मत द्वेष कर मत देहका अभिमान रे॥

(५)

यह कौन कहता है कि—तू धर्मादि करता रह सदा।
जब तक न हो मन शुद्ध तबतक कर्म कर तू सर्वदा॥
जो कुछ करे जपतप हवन हो दान, याजन याथजन।
विश्वेश अर्पण कर सभी, सच्चा यही ईश्वर भजन॥

(६)

यह कौन कहता है कि—तू माता पिताने है जना।
रजवीर्यके संयोगसे है देह ही तेरा बना॥
जो वृत्त द्रष्टा वृत्त नांही, वृत्तसे अतिभिन्न है।
त्यों देह द्रष्टा देह नांही देहसे तू अन्य है॥

(७)

यह कौन कहता है कि-तू मन इन्द्रियों या प्राण है।
जड दृश्य मिथ्याक्षणिक यह सब अन्यकी पहिचान है॥
मन आदि मिथ्या अन्य हैं, तू भिन्न उनसे आप है।
मन आदि मानत आप तू, सबसे बड़ा यह पाप है॥

(८)

यह कौन कहता है कि-तू है कर्म करता भोगता।
निस्संग तुझमें कर्मकी किंचित् नहीं है योगता॥
विज्ञान करता कर्म है, विज्ञान ही फल चाहता।
निष्कर्म तू सम्बन्ध ना कुछ कर्मफलसे राखता॥

(९)

यह कौन कहता है कि—तू पापिष्ट है अतदीन है।
अति शुद्ध तू पावन परम चिद्धन निरामय पीन है॥
उस देहसे कर संग तू पापिष्ट निजको मानता।
समशान्त शाश्वत पूर्ण शिवको तुच्छ प्राणी जानता॥

(१०)

यह कौन कहता है कि—तू हरिदास या हरदास है।
है दास तू जबतक गलेमें, डाल रक्खी पाश है॥
दे काट आशा पाश भोला! त्याग जगकी आश रे।
यह ही कहाता योग, कहलाता यही संन्यास रे॥

पूज्यपाद स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराजके

सदुपदेश

'संन्यासीको 'ॐ' प्रणव-मन्त्रका प्रतिश्वास जप करना चाहिये ।'

'तत्त्व-चिन्तनमें या भगवद्भजनमें मनको इस प्रकार फँसा रखना चाहिये कि-वह अपनेको भूल जाय, तथा उसे कुछ सोचनेका अवसरही न मिले।'

'जब मन साधन-भजनसे खाली रहता है, तब वह विषय-चिन्तनरूपी पाप कमाता है, अतः उसको साधन-भजनसे खाली रखनाही बड़ा भारी पाप है।'

'हृदयमें पवित्र-विचारोंकी दवादव ढेर लगाते जाइये, अपवित्र-विचार आपही आप रफूचक्करहो जायेंगे।'

'मैं पवित्र हूँ, निर्विकार हूँ, शक्तिमान् हूँ, नित्य-शाश्वत, एवं पूर्णानन्द निधि हूँ, ऐसा दृढतम निश्चय रक्खो, दूर्वलता एवं भयका नाम निशान ही न रहेगा।'

'स्त्री,धन, मकानादि पदार्थोंकी आसक्तिही चतुर्थाश्रमी-संन्यासीके अनर्थका एवं पतनका कारण होती है'। अतएव कहा है-

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां,
संगादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः ।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः,
संगेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ॥

सांसारिक पदार्थोंकी आसक्तिका परित्यागरूपी निःसंगताही यति-संन्यासियोंके लिये मोक्षका मार्ग है। स्त्री-धनादिकी आसक्तिसे ही अशेष-कामादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है। आसक्ति, योगारूढको भी भ्रष्ट कर जब पतित बना देती है, तब जो अल्प-विचारवाले, एवं अल्प-साधन वाले-योगी हैं वे स्त्री धनादिकी आसक्तिसे दुर्दशाको प्राप्त हों, इसमें आश्चर्यही क्या है ?

× × ×

मनको हठसे रोकना कठिन है, मन रोकनेके लिए मुख्य दो उपाय हैं-अभ्यास और वैराग्य। भक्तका अभ्यास है-भगवान्के नामका जप और भगवान्के सगुण-निर्गुण स्वरूपका ध्यान करना, वैराग्य है-कामादि दुर्गुणोंका त्याग करना। ज्ञानीका अभ्यास है-'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' मैं ब्रह्म हूँ, यह सब कुछ ब्रह्मही है, इस ब्रह्माकार-वृत्तिकी गंगा-प्रवाहकी तरह वारवार आवृत्ति करना, वैराग्य है-'मैं देह हूँ' और यह नामरूपात्मक प्रपञ्च है, इस अनात्म-वृत्तिका वारवार तिरस्कार करना।

× × × ×

भगवान्का स्वरूप है-सत्-चित् और आनन्द, जिसको दूसरे शब्दोंसे कहते हैं-अस्ति, भाति और प्रिय। यह स्वरूप है-स्वतः सिद्ध एवं सर्वव्यापी। फिर मनुष्य उसका अनुभव क्यों नहीं करता? इसका उत्तर भगवान्ने दिया है-

अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'
(गीता० ५।१५)

उसके अज्ञानसे आवृत्त होनेके कारण मनुष्य उसका अनुभव नहीं कर सकता। वह अज्ञान-कल्पित नाम-रूप देखता है। नामरूपसे ढके हुए स्वरूपको देख नहीं सकता। नाम-रूपके आवरणको हटाने पर वह उस स्वतःसिद्ध स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है। यह स्वस्वरूपस्थितिही सर्वदुःखनिवृत्ति-रूप परमानन्दकी प्राप्ति है।

× × ×

सत्तत्व (अस्तित्वके) अनुभवमें प्रतिबन्धक है—नाम-रूपका दर्शन। नाम-रूपको मिथ्या समझ कर उसको भूल जाना ही सत्तत्वके अनुभवका साधन है।

चित्तत्त्व (स्वतःप्रकाश ज्ञान) के अनुभवमें प्रतिबन्धक है—नामरूपात्मक पदार्थविषयक सुख-दुःखका वृत्त्यात्मक ज्ञान। जबतक वृत्त्यात्मक सुख दुःखका भान होता रहता है, तबतक उस स्वतः-प्रकाश चित्तत्त्वका अनुभव नहीं होता। वास्तवमें वृत्त्यात्मक सुख दुःख, न चेतनमें है, न जड़में है। अज्ञानसे जड़ चेतन की तादात्म्य-ग्रन्थि होनेके

कारण उसका भान होता है। साधक जब वृत्त्यात्मक सुख दुःखका तिरस्कार करता है, तब उसे स्वतःप्रकाश, विषय-निरपेक्ष, अखण्ड, ज्ञानका अनुभव होता है।

पूर्णानन्दके अनुभवमें प्रतिबन्धक है—विषयानन्द (क्षुद्रानन्द) की लालसा। जबतक मनुष्य विषयानन्दका कामुक बना रहता है, तबतक उसे किसी भी प्रकारसे पूर्णानन्दका अनुभव नहीं होता। यद्यपि विषयानन्द पूर्णानन्दका एक क्षुद्रतम अंश है, तथापि तुच्छ, परिच्छिन्न, क्षणभंगुर, विषयके सम्बन्धसे उसका प्राकट्य होनेके कारण मनुष्य की उससे तृप्ति नहीं होती। तृप्ति न होना ही दुःख है। अतएव विवेकविचारशील महापुरुष विषयानन्दको दुःखरूप समझते हैं। जब विषयानन्द की लालसासे चित्त निरुद्ध होकर स्वस्वरूपमें एकाग्र होजाता है, जब उसे सत्तत्त्व एवं चित्तत्त्वके साथ पूर्णानन्दका अपरोक्ष-अनुभव होजाता है।

× × ×

भगवत्तत्त्वका महत्त्व समझो, उसके लिए यथाशक्य नित्यप्रति सत्संगके द्वारा भगवच्चर्चा करो। भगवत्तत्त्वका महत्त्व समझलेनेपर संसारका तुच्छमहत्त्व एकदम कम होजायगा, भगवच्चर्चा भवरोगनिवारक औषधि है। जो भगवच्चर्चासे विमुख रहता है—उसको शास्त्रकारोंने गो-घाती कसाईके समान आत्मघाती कहा है—

> निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
> भवौषधाच्छोत्रमनोऽभिरामात्।
> क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्,
> पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
> (भा० १०।१।४)

सांसारिक-विषयोंकी तृष्णासे रहित महापुरुष जिस-भगवत्तत्त्वका निरन्तर गुण-गान करते हैं। जिसका गुण-गान संसाररूपी महारोग की उत्तम औषधि है। तथा जिसके महत्त्वादिगुणोंका श्रवण मनको आह्लादित करता है। आत्म-हत्यारेके सिवाय ऐसा कौन-सा पुरुष है जो उस पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुणानुवादसे विमुख होसकता है? अर्थात् कोई नहीं, जो भगवत्तत्त्वके गुणानुवादसे विमुख रहता है, उसे गो-घाती कसाईके समान आत्म-घाती समझना चाहिये।

(क्रमशः)

× × ×

सुमन-सुरभि

(ले० श्रीस्वामी हरिहरगिरिजी महाराज-बकुलहर)

यदि तुम विश्वके कारखानेसे निर्लेप निकलना चाहते हो तो अपनेको छोटा (विनम्र-अहंकार शून्य) बनाओ, गुलाबके फूलको लेने दौड़ते हो, परन्तु कांटे चुभा बैठते हो, क्यों? तुम अपनेको फूलसे जबरदस्त समझते हो, मगर उसी फूलमें अपनेको छोटा समझनेवाला कीटाणु मज्रेसे गन्ध लेता रहता है।

महापुरुषको चाहिये कि—शरणागत की रक्षा करे, महापुरुष ही तो महा-प्रभुका रूप है। एक दिन मैं अपनी छोटी-सी आयुमें हाथमें कमण्डलु लिये नदीके किनारे किनारे जा रहा था। रास्तेमें एक महात्माका दर्शन हुआ, उनके चेहरेसे सुख और शान्तिकी रेखायें प्रकट हो रहीं थीं, मुखकमल मन्द स्मित था, क्लान्त (परिश्रम) होने से मैं खिन्न-सा हो रहा था, छाया देख कर मैं भी महात्माको अभिवादन कर बैठ गया, बहुत-सी सत्संग की बात कहने के बाद उन्होंने मेरेसे पूछा—भाई? परमात्मा क्या नहीं कर सकता? मैंने विना विचारे ही झट कह दिया कि—सब कुछ कर सकता है, वे हंसे और चुप होगये, मैंने इसमें अपमान-सा समझा, और पूछा कि—भगवन्! क्या

नहीं कर सकते आपही बतलाइये। अच्छा देखो! परमात्मा अपने दरबारसे अपने बच्चोंको अलहदा नहीं कर सकता है। क्या तुम बता सकते हो कि—परमात्माका अधिकार कहां नहीं है? सब जगह है। फिर भला अपने बचोंको वह कैसे त्याग सकते हैं! कितना भी नाराज होनेपर भगवान् अपने राज्यसे उन्हें पृथक् नहीं कर सकते।

रेमूर्खप्राणी! जब ईश्वर तुझे अपनी दयाका दान देता है, तो फिर क्यों तू उससे विमुख होकर मायाके लपेड़े खाता फिरता है, यदि तेरे अन्दर स्वतः सामर्थ्य नहीं है, तो उस प्रभु की शरणमें जा, देख वहांसे डंके की चोटसे आवाज़ आ रहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

यदि तुम्हारा चित्त वासनारहित हो जाय तो तुम ही ईश्वर हो। तमाम सृष्टि तुम्हारे शब्दों पर आरूढ़ होकर चलने लगेगी। प्रसिद्ध मुगल सम्राट् सुलेमानको एक साधु-फ़क़ीर मिला,उसने उसे खुदाकी प्राप्तिका उपाय बतला दिया और कहा कि—तुझे शान्ति ईश्वरके शरणमें ही मिल सकती है। सत्संगका फल यह हुआ कि—वह बादशाहत छोड़कर चल दिया, आत्मानुसन्धान करने लगा। यद्यपि लड़का राज्य करता था, परन्तु बादशाहकी खोज जारी थी। मिला, लड़का जाकर कहने लगा, पिताजी घर चलिये। वहीं आपको एकान्त स्थान बनवा दिया जायगा, भजन करना, वहीं सब आपका काम होता रहेगा। सच्चा फकीर हंसा और कहने लगा-तू मेरा एक भी कार्य नहीं कर सकता! नहीं पिताजी यह बात नहीं! अच्छा! तालाबमें सुई फेंकी, और कहा-निकालो, हजारों आदमी कूदे परन्तु सुईका कोई पता नहीं, सब थक गये। पिताजी! दूसरी सुई ला दूँ! ना। थक गये? तो फिर और क्या कार्य करोगे, जाव इतना छोटा-सा कार्य ही नहीं हुआ! अच्छा मैं करवा दूँ! करवाईये! ऐ! मेरी प्यारी मछलियाँ! मुझे सुईकी आवश्यकता है, मेरी सुई दे दो! बस शब्द निकलनेकी देरी थी, एक मछली सुई बाहर फेंक गई। यह है भगवान्कासाक्षात्कार इसीका नाम है साधुताई। फिर वह महापुरुष दुनियाके प्रपञ्चको त्याग बनकी कन्दराओंमें निवास करनेके लिये चला गया। फिर आजतक उसके दर्शन किसीको स्वप्नमें भी न हुए।

× × ×

लोग अक्सर कहते हैं कि—साधुओंको संसारसे बाहर ही चला जाना चाहिये, और लोग यही उपदेश भी दिया करते हैं। परन्तु ऐसा वही लोग कहा करते हैं—जो साधु शब्दका अर्थ नहीं जानते। भला जब संसार से बाहर हो जायेंगे, तो वे साधु शब्दको चरितार्थ कैसे कर सकते हैं? साधन बने जो अन्यका, साधू वही कहलाय है।

'जबतक जीवे तबतक सीवे।' यह एक महात्मा के शब्द थे। वास्तवमें जब हम संसारमें पैदा हुवे, संसारमें पले, संसारका खाया, तो क्या संसारके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है? अवश्य है। जो लोग यह कहते हैं कि—हम संसारसे अलग होकर आत्मकल्याण करें परन्तु वे भूल करते हैं, कल्याण-साधनमें स्वार्थ, परमार्थ दोनोंकी आवश्यकता है। एकके बिना एक अधूरा है।

(क्रमशः)

जन्मसिद्ध प्राणी धर्म

(ले०—स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज योगीराज वैद्यराज)

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
(तैत्ति० प्रपा० १ । अनु० १०)

परमेश्वर, इन्द्रादिदेवोंमें संसारकी उत्पत्ति करनेवाला ब्रह्मा कहलाताहै । काव्यकरनेवाले कवियोंके मध्यमें व्यासादिरूप पदवी यानी वरिष्ठ अधिकारी बनकर रहताहै । विप्रसमाजमें ऋषि-गोत्रप्रवर्तक आद्य पुरुष, चतुष्पाद पशुओंके मध्यमें महिष, गृध्रोपलक्षित पक्षिओंमें श्येन, और वनोमें छेदनकरनेवाला परशु, बनकर रहता है । इसप्रकार सोमवल्लीरूपसे उत्पन्न होकर मन्त्रित बनकर गंगाजल, कुश, तिलादि पवित्र द्रव्योंका भी उल्लंघन करता है ।

इस मन्त्रसे जानाजाता है, कि--ईश्वरोत्पन्न इस सृष्टिमें पशुपक्षी आदि तिर्यक् योनि और सब प्रकारके वृक्षादि उद्भिज, ये सब परब्रह्मके रूप हैं। अतः सबमें धर्मका अस्तित्व रहता है ।

शास्त्रकारोंने भूतलीय जीवोंके चार विभाग किये हैं--उद्भिज, स्वेदज, अंडज और योनिज । जो पृथ्वी को भेदन करनेसे वृक्षलतादि, उत्पन्न होते हैं, वे उद्भिज हैं । युका, मत्कुणादि जो प्रस्वेदसे उत्पन्न होते हैं; वे हैं स्वेदज । पक्षी, सर्प, मत्स्यादि—जो अंडोंसे निकलते हैं, वे हैं अंडज । और चतुष्पाद् पशु और द्विपाद् मनुष्यादि–जो योनिद्वारसे जन्म पाते हैं, वे हैं योनिज। इन सब जीवोंमें जन्मसिद्ध धर्म रहा है। धर्मके आधारसे ही विश्वकी स्थिति है, और प्रगति भी नियमित होती रहती हैं ।

वनस्पति, पशुपक्षी आदि सब जीवोंमें राग द्वेष, भय-अभय, शठता, क्रुरता, स्वार्थवृत्ति, सेवावृत्ति, त्याग, जीवनरक्षा, स्वजनरक्षा, स्वामीरक्षा इत्यादि जो-जो शुभाशुभवृत्तियां प्रतीत होती हैं; उनमें शुभवृत्तियां जन्मसिद्ध धर्मरूप कारणसे हैं ।

मनुष्योंके सिवाय अन्य प्राणियोंमें धर्म प्रायः समस्थितिमें रहता है; अर्थात् जैसा युगारम्भमें था, वैसा ही अर्वाचीन कालमें भी दृष्टिगोचर होता है। फिर भी शिक्षण के प्रभावसे श्वान, अश्वादिपशुओंमें त्यागवृत्ति और स्वामीभक्ति आदिका विकास देखनेमें आता है । पशुओं में उदरपूर्तिके निमित्त शरीर बलका उपयोग करके बलात्कारसे एवं शठतासे दूसरोंकी वस्तु ले लेना, यह स्वाभाविक धर्म है; परन्तु किसानोंके पास रहे हुए ऐसे ऐसे कुत्ते देखनेमें आते हैं कि–जो कुछ उनको अल्प या अनल्प मिलता है, उतनेमें ही वे सन्तोष मान लेते हैं । बलवान् होने पर भी दूसरे निर्बल कुत्तोंकी रोटी नहीं छिन्न लेते । और मजदूरोंकी अरक्षित पड़ी हुई रोटीको भी शठतापूर्वक खानेकी चेष्टा नहीं करते ।

अंग्रेजी 'रायल रीडर'–जो स्कुलमें पाठ्यपुस्तक है, उसमें लिखा है कि–एक कुत्तेने बरफसे दबे हुए करीब ३५–४० मनुष्योंके जीवन की रक्षा की थी। इसप्रकार अनेक गाय, भैंस, घोड़ादि पशुओंमें भी कभी-कभी उस स्वाभाविक धर्मका विकास होता रहता है । फिर भी यह धर्म उसकी संततिमें नियमितरूपसे नहीं आता । जन्मसिद्ध धर्मका अवतरण होता हैं। इसलिये मनुष्यधर्मसे पश्वादि प्राणी धर्मको अलग दिखाया है, अतः शास्त्रकारोंने प्राणीधर्मको 'स्वभाव' संज्ञा दी है । तथापि यह भी एक प्रकारका धर्म ही है ।

मनुष्यसे इतर जीवसृष्टिमें भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्ञानकी न्युनाधिकता प्रतीत होती है । ज्ञानमें विचार-

शक्ति, निर्णयशक्ति, तर्कशक्ति, स्मरणशक्ति, संवेदना-शक्ति और दिव्यदर्शनशक्ति (दूरदर्शन अथवा दूर-कालके विषयोंका प्रत्यक्ष करना) इत्यादि विभाग है। सर्वप्रकारके ये ज्ञान इन पश्वादिमें भी यथासम्भव प्रतीत होते हैं—

उद्भिजसृष्टिके वनस्पति आदि जीव, जीवनरक्षा और वंशवृद्धिके लिये अपने अपने धर्मके अनुसार ज्ञान-पूर्वक कोशिश करते रहते हैं। लता अनुकूल दिशा तरफ गमन करती है, जिस दिशामें वृक्ष या अन्य कोई आधार होता है, उस दिशाकी ओर आगे बढ़ती है। ऐसे ही वृक्षोंके मूलकी गति भी जिस ओर जलकी अनुकूलता होती है, उस दिशामें होती है। अमेरिकामें मांसाहारी वृक्षकी एक जाति है, इस वृक्षके पत्ते पर या शाखा पर क्षुद्र-जन्तु या पक्षी जब बैठता है, तब वह पत्तेका संकोच कर, या शाखाको नवां कर उस पक्ष्या-दिके सार भागको चूस लेता है। पश्चात् पूर्ववत् शाखा और पत्तेको विकसित कर देता है। इन उदाहरणोंसे वृक्षोंमें भी जीवनरक्षणके ज्ञान की सिद्धि होती है।

लजालूके पत्तोंको स्पर्श करने पर पत्ते संकोचित होकर शाखा झूक जाती है। अन्यस्पर्शके अभावकालमें पत्ते पुनःविकसित हो जाते हैं। अतएव उसमें स्पर्शशक्तिका ज्ञान (संवेदना शक्ति) की सिद्धि होती है सूर्य कमल दिनमें और चन्द्र-कमल रात्रिमें विकसित होते हैं। सूर्य कमल सूर्य की ओर अपने पुष्प-शरीरको रखता है; और प्रफुल्लित रहता है। अतएव कमलमें संवेदना शक्तिका विकास है, ऐसा निश्चय होता है। और उद्भिज योनिके वृक्ष-औषध्यादि जीवोंमें वंशवृद्धिकी भी चाहना रहती है।

मनुष्य जैसे आत्मरक्षणके लिये समाज-संगठन करते हैं। अपराधीको दण्ड देते हैं और दूसरे समाज के साथ युद्ध करते हैं। वैसे ही पीपिलिका, मधुमक्षिका काक, मृगादि प्राणियोंके भी समाजमें संगठन देखनेमें आता है। मधुमक्षिका का समाज—उसके राजाकी आज्ञा के अनुसार चलता है। दूसरे समाजसे युद्ध करता है, और अपने समाजके किसी अपराधीको दण्ड भी देता है। गौ महिषादि पशुओंके समुदायमें आपसमें कदा-चित् युद्ध भी होता रहता है, परन्तु बाहरका कोई व्याघ्रादि अपने समुदायके किसी पशुको मारनेके लिये जब आता है, तब सभी मिलकर उसके ऊपर हमला करते हैं। ऋषीकेशादिस्थानोंमें देखा गया है कि—बन्दरोंका समाज किसी अपराधी बन्दरको पकड़ कर गंगामें फेंक देता है, और चारों ओर बन्दर खड़े हो जाते हैं, कि—अपराधी जलसे निकल कर भाग न जाय। इतना होने पर भी यदि वह भाग जाता है, तो वह दूसरे स्थानमें जाकर वह अकेला रहता है, पुनः उसको समाजमें सम्मिलित नहीं करते। और ये सब पशुपक्षी अपने बच्चों की रक्षा तो करते हैं ही। इससे जाना जाताहै कि-इनमें विचार शक्ति, निर्णयशक्ति, कुलधर्म, समाजिकधर्म और आत्मरक्षणके उपाय-ज्ञान, अपने-अपने धर्म नियमोंके अनुसार प्रतीत होता है।

जहरीले सर्पको कोई मारनेको आया, उसने कुछ घाव किये, फिर भी यदि सर्प बच गया, तो उस मनुष्यसे बदला लेनेके लिये अनुकूल समय मिलनेपर कई महिनोंके बाद या वर्षोंके बाद भी उसको मारनेके लिये प्रयत्न करता रहता है, अनेक मनुष्य ऐसे विरोधी सांप काटनेसे २-३ वर्षके बाद भी मरणके शरण हुए है। गौ, बैलादि पशु भी विरोधी मनुष्यपर वर्षों तक आक्रमण करते रहते हैं। श्वान भी विरोधियोंको बार-बार त्रास पहुँचाते रहते हैं।

कोयल अपने अण्डोंके पोषण करनेमें कष्ट मानती है; परंतु अपत्यप्रेमके कारण अंडेका पोषण करनेकी इच्छा तो करती है, अतः कोयल अपने अण्डोंको कौवोंके घोसलेमें रख आती है। इसलिये संस्कृतके

विद्वानोंने कोयलको 'परभृता' संज्ञा दी है। कोयल अपने अण्डोंको रक्खनेमें बुद्धिका उपयोग भी करतीहै। जिस किसी कौवेके घोसलेमें वह अपने अंडेको नहीं रक्ख आती। किन्तु वह जिस घोसलेमें दोसे अधिक अंडे होते हैं, वहाँ ही रक्खती है। चूंकि, कौवे दो तक संख्याको समझते हैं। जहां कौवोंके मात्र दो ही अंडे होते हैं, वहां पर यदि कोयलने अंडेको रखा, तो कौवोंकी मादा कोयलके अंडेको गिरा देती है। इस बातको कोयल खूब समझती है। इससे सिद्ध होता है, कि—कोयलमें कौवों की अपेक्षा तर्क-शक्ति विशेष है। यह ज्ञान, कोयलको जन्मसे ही प्राप्त है।

लेकिन कौवोंमें तर्कशक्ति कम होने पर भी कौवोंका सामाजिक संगठन बहुत अच्छा है। एक कौवेपर आपत्ति आने पर सैकड़ों कौवे उसकी सहायताके लिये दूर-दूरसे आ जाते हैं। इससे कोवोंमें जाति प्रेमरूपी धर्मका पालन आग्रहपूर्वक होता है।

वर्षा आने की तैयारी होनेपर पीपिलिका अंडेको लेकर सुरक्षित स्थानमें चली जाती है। इससे जीवन-रक्षा (व्यक्तिगतधर्म) और अंडेका रक्षण (कुलधर्म) जाना जाता है। ऐसे ही मेंढकादि जीवोंको भी वर्षा आनेका ज्ञान पहलेसे ही हो जाता है। इससे वे शब्द ध्वनि द्वारा अपनी प्रसन्नता दिखाते हैं। इसलिये चेटीं और मेंढकमें संवेदनाशक्ति या दिव्यदर्शनशक्ति विशेष है।

कामवासनाका संयमरूप धर्मका पालन, मनुष्य की अपेक्षा पशुआदिकी अनेक जातियोंमें विशेषरूपसे देखनेमें आता है। मनुष्य विलासके लिये भोग करते हैं। परन्तु अनेक जातिके पशुआदि वंश वृद्धिके निमित्त ही समागम करते हैं।

हाथी, घोड़ा, बैल, कुत्ते, सिंह, व्याघ्रादि पशु और अनेक जातिके शुक, कबुतरादि पक्षी शिक्षाके अनुसार कार्य करते हैं। सारथी, जिस दिशामें चलनेके लिये घोड़ेकी लगाम खींचता है, उसी दिशामें घोड़े दौड़ पड़ते हैं। और स्थान पर वापस लौटनेके समय तो विना इसारा से ही रास्तें पर चलते हैं। इसप्रकार सायं-सन्ध्याके समय पशु पक्षी अपने अपने स्थान तरफ नित्यप्रति आ जाते हैं। इससे अनेक जातिके पशु-पक्षियोंमें स्मरण शक्ति, विचार शक्ति, और निर्णय शक्तिका परिचय होता है। तथा जिससे किसी कारणवशात् द्वेष हो जाता है, उससे शठता, क्रूरता, या वीरता पूर्वक उसी समय अथवा भविष्यमें प्रतिवदला लेनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं।

विश्वविख्यात प्रवासी हेडीसनने लिखा है कि—मोंगोलियाके ऊँटोंमें दूर-दर्शनरूप अद्भुत शक्ति होती है। ये ऊँट समूह, रेगीस्थान में रहते हैं; परन्तु जब उस स्थानका घास समाप्त हो जाता है; तब वहांसे ५० या १०० मैल दूर जहां घास चारा की अनुकूलता देखते हैं, उस दिशामें वे चल जाते हैं। रास्तेमें इधर-उधर नहीं भटकते, इच्छित-स्थानपर पहुँचने पर ही विश्रांति लेते हैं। यह दूरदर्शन-शक्ति इन ऊटोंका जन्मसिद्ध धर्म है।

श्वान, गौ, बेलादि पशुओंमें स्वामीभक्ति भी देखने में आती है। किसी समय अपने स्वामीको कोई दुष्टमनुष्य या हिंसक पशु मारनेके लियें आता है। तब ये पशु उस दुष्ट पर टूट पड़ते हैं। स्वामीरक्षणके लिये अपने जीवनका बलिदान दे देते हैं। सहस्रावधि मधुमक्षिका अपने स्वामीकी रक्षाके लिये अपने जीवनका त्याग कर देती हैं। यह त्यागरूप धर्म भी अनेक जातिके जीवों में देखनेमें आता है।

इस प्रकार पश्वादि सृष्टिके धर्मकी स्थिरतासे ही मनुष्य सृष्टि अपनी प्रगति पा सकती है। और जब ये क्षुद्र जीव अपने धर्मका आग्रह पूर्वक पालन करते हैं, तब मनुष्योंको भी अपना धर्म पूर्ण रूपसे सप्रेम सर्वदा पालन करना ही चाहिये।

[श्रीसर्वज्ञात्ममुनि प्रणीत संक्षेपशारीरक, अद्वैतवेदान्तके दिव्यरहस्यको प्रकटकरनेवाला, अद्वितीय ग्रन्थ रत्न है। इसका महत्त्व वेदान्त-प्रेमियोंसे छिपा नहीं है, इसका अनुवाद अबतक हिन्दी-संसारके लिए दुर्लभ था, अतएव आचार्यप्रवर पूज्यपाद महामण्डलेश्वर महाराजकी शुभ-प्रेरणासे इस मधुसूदनीटीकासहित ग्रन्थ-रत्नका अपने विश्वनाथके वेदान्त-प्रेमी पाठकोंकी आध्यात्मिक ज्ञानकी उन्नतिके लिए-हिन्दीमें यथामति अनुवाद कर रहा हूँ। प्रति-मास यह सटीक ग्रन्थ अनुवाद सहित यथासंभव स्वल्प-स्वल्प प्रकाशित होता जायगा। आशा नहीं किन्तु विश्वास है कि-इसका अभूतपूर्व हिन्दी अनुवादसे लाभ उठाकर पाठकगण मेरे परिश्रमको सफल करेंगे—
सम्पादक]

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादश्रीसर्वज्ञात्ममुनिप्रणीतम्

संक्षेप-शारीरकम्

प्रथमोऽध्यायः

अद्वैत-ब्रह्मविद्यामार्तण्डश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचित

टीकासहितं, हिन्दी-अनुवादयुक्तञ्च

मूलं-मंगलाचरणम्—

अनृतजडविरोधिरूपमन्त-त्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम्।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः, परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि ॥१॥

जिस मुरारी-परमात्माका परमपद, अनृत एवं जड़से विरुद्धरूपवाला है, अर्थात् अनृत-(मिथ्या) विरुद्ध-त्रिकालाबाध्य परमार्थ सत्य, एवं जड़ विरुद्ध स्वतः प्रकाश ज्ञानस्वरूप है। तथा देशकृत अन्त (परिच्छेद) कालकृतअन्त, एवं वस्तुकृतअन्त, इन त्रिविध अन्तोंसे विरुद्ध है। अर्थात् देशकृत अन्त न होनेके कारण वह विभु-व्यापक स्वरूप है, कालकृत अन्त न होनेके कारण वह नित्य अविनाशी स्वरूप है, तथा वस्तुकृत अन्त न होनेके कारण वह सर्वात्म-अद्वितीय स्वरूप है। तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, एवं रागादिमलसे विरुद्धहोनेसे शुद्धस्वरूप है, धर्मा-धर्मतत्फलसम्बन्धरूप-बन्धनसे विरुद्ध होनेसे नित्यमुक्तस्वरूप है, तथा दुःखताविरुद्ध-परमा-नन्दस्वरूप है। जो परमपद, अतिनिकट है, अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष, व्यवधान-शून्य, प्रत्यक् आत्मस्वरूप है, तथा जो जगत्गत जन्मादिविकार, जीवगत जाग्रदादिविकार, एवं ईश्वरगत सृष्ट्यादिविकारोंसे रहित, नितान्त निर्विकार स्वरूप है, उस स्वरूपकी मैं पराभक्ति पूर्वक सभी तरफसे स्तुति करता हूँ ॥१॥

(मधुसूदन-टीका)

सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयसुखं यद्ब्रह्म गत्वा गुरुं,
मत्वा लब्धसमाधिभिर्मुनिवरैर्मोक्षाय साक्षात्कृतम्।
जातं नन्दतपोबलात्तदखिलानन्दाय वृन्दावने,
वेणुं वादयदिन्दुसुन्दरमुखं वन्देऽरविन्देक्षणम् ॥१॥

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां,
प्रणम्य पादाम्बुजपुण्यपांसून्।
तेषां प्रभावादहमस्मि योग्यः,
शिलाऽपि चैतन्यमलब्ध येभ्यः ॥२॥

पूर्वाचार्यवचो विचार्य निखिलं सत्संप्रदायाध्वना,
हित्वोच्छृङ्खलमार्गमागमगिरां तात्पर्यपर्याप्तितः।
विच्छिद्यार्थविभागतः प्रकरणान्युद्भिद्य तत्त्वं रहः,
कुर्वे संप्रति सारसंग्रहमिमं संक्षेपशारीरके ॥३॥

हित्वा हेयमुपादेयमुपादाय विचारतः।
प्रायेण पूर्वटीकानामिहार्थः प्रकटीकृतः ॥४॥

विशेषाद्विश्ववेदस्य, प्रत्यग्विष्णोश्चबुद्धयोः।
व्याख्यानं श्रद्धयाऽलेखि, गुरूणां तौ हि नो गुरू ॥५॥

तत्र श्रीमच्छारीरकशास्त्रस्य तात्पर्यविषयीभूते मुमुक्षुजिज्ञास्ये निर्विशेषे ब्रह्मणि बोधनीये प्रासङ्गिक-मुमुक्ष्वजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मोपासनावाक्यानेकविध-विचारविक्षिप्ततया दुरवबोधतामाकलय्य तद्विक्षेप-

(हिन्दी-अनुवाद)

जिस सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वय, एवं सुख स्वरूप ब्रह्मतत्त्वका—गुरुके पास जाकर मनन करके प्राप्त समाधिवाले—श्रेष्ठ मुनियोंने अविद्यादिबन्धसे मुक्ति पानेके लिए—साक्षात्कार किया है। वही तत्त्व वृन्दावनमें नन्दजीके तपोबलसे समस्त-विश्वके आनन्दके लिये श्रीकृष्णरूपसे प्रकट हुआ है। जो श्रीकृष्णरूप, चन्द्रके समान सुन्दर मुखवाला, कमलके समान सुशोभित नेत्रवाला एवं वंशीका बजानेवाला है, उसकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

श्रीराम, श्रीविश्वेश्वर, एव श्रीमाधव, गुरुओंके चरणकमलकी पवित्र-धूलिको प्रणाम करके, उस धूलिके प्रभावसे मैं सभी प्रकारसे योग्य हो गया हूँ। जिनदिव्य रजकणोंसे प्रथम जड़ शिला भी चेतन हो गई थी ॥२॥

उच्छृङ्खल-मार्गको छोड़कर सत्संप्रदायके मार्गसे प्रथमके आचार्योंके समस्तवचनोंका एकान्तमें विचारकर, उपनिषदादिआगमके वचनोंके तात्पर्यकी पूर्ण प्राप्ति द्वारा अर्थ-विभागसे तत्तत्प्रकरणोंको अलग-अलग करके, एवं तत्त्वको स्पष्ट प्रकट कर अब मैं इस संक्षेपशारीरक ग्रन्थके सारकासंग्रह टीकारूपसे करता हूँ ॥३॥

विचारसे हेयको छोड़कर, एवं उपादेयको ग्रहण कर, प्रायः पूर्वके आचार्योंकी टीकाओंका ही अर्थ यहां प्रकट किया जाता है ॥४॥

महाविद्वान् विश्ववेद, तथा प्रत्यग्विष्णु आचार्य का व्याख्यान विशेषरूपसे श्रद्धापूर्वक यहां लिखा जाता है, क्योंकि वे दोनों हमारे गुरुओंके भी गुरु हैं ॥५॥

श्रीमच्छारीरक-शास्त्रके तात्पर्यका विषयरूप, मुमुक्षु-जिज्ञास्य एवं शास्त्र-बोधनीय, निर्विशेष—ब्रह्मके विज्ञान की—प्रसंगसे प्राप्त, मुमुक्षुसे अजिज्ञास्य, सविशेषब्रह्म की उपासना प्रतिपादक अनेकविध वाक्योंके विचारसे विक्षेप होनेके कारण—दुर्लभता जानकर, उस विक्षेपके

परित्यागेन मुमुक्षुजिज्ञास्यं निर्विशेषं ब्रह्म शास्त्रतात्पर्यविषयीभूतमनायासेन मुमुक्षुबोधाय संक्षेपशारीरकाख्येन श्लोकग्रन्थेनाविश्चकार करुणया श्रीसर्वज्ञात्माचार्यः।

अत एव मुमुक्ष्वजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मप्रासङ्गिकविचारपरित्यागरूपसंक्षेपविशिष्टं निर्विशेषब्रह्मविचारात्मकं शारीरकशास्त्रमेवैतदिति संक्षेपशारीरकमिति समाख्याऽस्य युक्तैव।

तत्राद्यं श्लोकचतुष्टयं श्रीमच्छारीरकशास्त्रस्याद्यचतुःसूत्रीस्थानीयम्।

तत्र हि प्रथमसूत्रे ब्रह्मविद्याधिकारी शुद्धस्त्वंपदार्थो जिज्ञास्यब्रह्माभेदान्वययोग्यः प्रतिपादितः। तयोर्भेदे हि स्वनिष्ठकर्तृत्वाद्यध्यासरूपबन्धनिवृत्तिकामस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मजिज्ञासा न स्यात्, अन्यज्ञानादन्यत्राध्यासनिवृत्तेरनुपपत्तेः, तस्मात्तयोरनन्यत्वमेव।

द्वितीये सूत्रे च जगत्कारणत्वप्रदर्शनव्याजेन तत्पदार्थोऽपि शुद्धः त्वंपदार्थाभेदान्वययोग्यस्तटस्थस्वरूपलक्षणाभ्यां प्रतिपादितः।

चतुर्थ-सूत्रे च तयोरैक्यमैकान्तिकं प्रतिपादितम्। एतावदेव शास्त्रस्य प्रमेयं त्वंपदार्थस्तत्पदार्थोऽखण्डवाक्यार्थश्चेति।

एतत्प्रमाणं तु तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यरूपं शास्त्रं, तच्चोक्तं 'शास्त्रयोनित्वात्' इति तृतीयसूत्रे।

परित्याग द्वारा अनायाससे मुमुक्षुओंको बोध होनेके लिए आचार्य श्रीसर्वज्ञात्ममुनिने कृपा करके संक्षेपशारीरक नामक-श्लोकात्मक ग्रन्थसे शास्त्रतात्पर्यविषयीभूत, मुमुक्षुजिज्ञास्य निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वको प्रकट किया है।

इसलिये प्रसंगसे प्राप्त-मुमुक्षुसे अजिज्ञास्य सविशेषब्रह्म-विषयक–विचारका परित्याग रूप संक्षेपसे युक्त-निर्विशेष-ब्रह्मकाविचारात्मक शारीरक शास्त्र यही है, अतः इसका संक्षेपशारीरक ऐसा नाम युक्त ही है।

इसके आदिके चार श्लोक श्रीमच्छारीरकशास्त्रके आद्य चार सूत्रके स्थानापन्न हैं।

शारीरकशास्त्रके प्रथमसूत्रमें—ब्रह्मविद्याका अधिकारी, शुद्ध त्वंपदार्थ, (जीवात्मा) जिज्ञास्यब्रह्मके साथ अभेदसम्बन्धके योग्य है—ऐसा प्रतिपादन किया है। यदि त्वंपदार्थका जिज्ञास्य-ब्रह्मसे भेद माना जाय तो त्वंपदार्थजीवनिष्ठ कर्तृत्वादिके अध्यासरूपबन्धकीनिवृत्तिकी कामनावाले मुमुक्षुकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा न होसकेगी, क्योंकि-अन्यके ज्ञानसे अन्यमें रहे हुए अध्यास की निवृत्ति नहीं होती है, इसलिये त्वंपदार्थका और ब्रह्मका अनन्यत्व (अभेद) ही है।

द्वितीयसूत्रमें जगत्कारणत्व-प्रदर्शनके बहानेसे 'शुद्ध तत्पदार्थ (ईश्वरात्मा) भी त्वंपदार्थके साथ अभेद-सम्बन्धके योग्य है' ऐसा तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण के द्वारा प्रतिपादन किया है।

चतुर्थसूत्रमें तत्पदार्थ और त्वंपदार्थका आत्यन्तिक-ऐक्य (अभेद) प्रतिपादन किया है। त्वंपदार्थ तत्पदार्थ और अखण्डवाक्यार्थ, इतना ही शास्त्रका प्रमेय है।

उक्तप्रमेयमें वेदान्त (उपनिषद्) के महावाक्यरूप तत्त्वमस्यादि शास्त्रही प्रमाण है, यह 'शास्त्रयोनित्वात्' इस तृतीयसूत्रमें कहा है। पाठ-क्रमकी

अत्रार्थक्रमस्य पाठक्रमाद्बलवत्त्वात्तृतीयचतुर्थसूत्रयोर्व्यत्यासो द्रष्टव्यः। प्रमेये हि कथिते 'किमत्र प्रमाणं' इति जिज्ञासायां प्रमाणं कथनीयं नान्यदाऽप्राप्तकालत्वात्।

अपेक्षा अर्थक्रमको बलवान् होनेके कारण, यहां तृतीय-सूत्र और चतुर्थसूत्रका व्यत्यास समझना चाहिये, अर्थात् चतुर्थ-सूत्रके बाद तृतीय सूत्रको मानना युक्तिसंगत है, क्योंकि–प्रमेय निरूपण करनेके बाद 'किमत्रप्रमाणं' 'इसमें क्या प्रमाण है' ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रमाणका निरूपण करना चाहिये, नान्यदा अर्थात् प्रमाण-निरूपणके अनन्तर प्रमेय-जिज्ञासाका अवसर प्राप्त नहीं होता।

एवमिहोचितक्रमेणैव त्वंपदार्थस्तत्पदार्थस्तदैक्यं चेति प्रमेयप्रतिपादनार्थास्त्रयः श्लोकाः। प्रमाणप्रतिपादनार्थस्तु चतुर्थश्लोकः।

इसप्रकार यहां उचित-अर्थ क्रमसे त्वंपदार्थ, तत्पदार्थ, और इन दोनोंका ऐक्य, इन तीन प्रमेयके प्रतिपादनार्थ, आदिके तीन श्लोक हैं। प्रमाण-प्रतिपादनके लिए चतुर्थ श्लोक है।

एतावता हि शास्त्रस्य विषयप्रयोजनसम्बन्धाः प्रतिपादिता भवन्ति।

इतने कथनसे शास्त्रके विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध भी प्रतिपादित हो जाते हैं।

प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वमेव हि विचारपुरःसराद्वेदान्तवाक्यप्रमाणाद्विज्ञातं प्रयोजनं शास्त्रस्य, एतदेवोपेयम्।

विचारपूर्वक वेदान्तवाक्यरूपप्रमाणसे विज्ञात अर्थात् अपरोक्षानुभूत, प्रत्यगात्मा और ब्रह्मका एकत्व ही इस शास्त्रका प्रयोजन है, और यही उपेय (प्राप्तिकेयोग्य) है।

उपायस्तु द्विविधो विषयस्त्वंपदार्थस्तत्पदार्थश्चेति, तस्य चाज्ञातत्वमात्रेण वेदान्तप्रमाणविषयत्वम्, अज्ञातत्वमिथ्याविज्ञातत्वाभ्यां विचारविषयत्वमिति विवेकः।

त्वंपदार्थ और तत्पदार्थरूप दो प्रकारके विषय, उपाय है। इस विषयभूत उपायमें अज्ञातत्वमात्रसे वेदान्तप्रमाणनिरूपितविषयता, तथा अज्ञातत्व एवं मिथ्याविज्ञातत्वद्वारा विचारनिरूपितविषयता रहती है, यह विवेक है, अर्थात् विषयताका विभाग है।

पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्य, पदार्थद्वयरूपविषयकथनपुरःसरं वाक्यार्थरूपप्रयोजनकथनं क्रमेणकृतम्। चतुर्थेन तु शास्त्रेण समं तयोः सम्बन्धः प्रतिपादितः। एतावता हि संक्षेपेण कृत्स्नशास्त्रार्थसमाप्तिः, परापरविद्ययोः पर्यवसानात्।

वाक्यार्थज्ञानको पदार्थज्ञानपूर्वक होनेसे पदार्थद्वयरूप विषयके कथनपूर्वक वाक्यार्थरूपप्रयोजनका कथन क्रमसे किया है। चतुर्थश्लोकसे शास्त्रके साथ तत्पदार्थ एवं त्वंपदार्थका प्रतिपाद्य प्रतिपादकरूप सम्बन्ध प्रतिपादन किया है। इतने कथनसे संक्षेपसे परा और अपरा विद्याका पर्यवसान होनेके कारण सकल शास्त्रार्थ की समाप्ति होजाती है।

तथा च श्रुतिः—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः' इत्यादिना षडङ्गवेदचतुष्टयात्मकं शब्दब्रह्म अपरविद्याविषयत्वेन व्याख्याय 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादिना परं ब्रह्म पराविद्याविषयं दर्शयति। स्मृतिश्च—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शाब्दं ब्रह्म परं च यद्', इत्यादि।

उत्तरग्रन्थस्त्वस्यैव प्रपञ्च इति द्रष्टव्यम्। संग्रहविवरणाभ्यां शिष्यबोधस्योद्देश्यत्वात्। तत्र 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण नपुंसकलिङ्गशब्दप्रयोगेण प्रथमः श्लोकः, 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि श्रुत्यनुसारेण स्त्री-लिङ्गशब्दप्रयोगेण द्वितीयःश्लोकः, 'स एष इह प्रविष्ट एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण पुंल्लिङ्गशब्दप्रयोगेण तृतीयः श्लोकः। एतेन सर्वेऽपि ब्रह्मप्रतिपादकाः शब्दाः व्याख्याताः।

अक्षरार्थस्तु मुरारेः = जगदुपद्रवकारिमुराद्यसुरसंहरणाज्जगत्पालयितुः श्रीविष्णोः जगत्कारणमायासत्त्वांशप्रतिबिम्बितचैतन्यात्मनोऽन्तर्यामिणः, परमं = मायाकल्पितजगत्कारणत्वादिशून्यत्वेन सर्वोत्कृष्टं बिम्बभूतं पदं = स्वरूपम्। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन बिम्बे स्वधर्माकल्पकत्वात्, बिम्बेश्वरपक्षेऽज्ञानप्रतिबिम्बितजीवचैतन्यप्रतियोगितया बिम्बत्वेन व्यवह्रियमाणस्य विष्णोः परमं पदं बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाशून्यं निरुपाधिस्वरूपम्।

'बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा' [अ० २ श्लो०

तथाच 'दो विद्या परा तथा अपरा जाननी चाहिये, ऐसा ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं, इनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद यजुर्वेद आदि चारवेद और निरुक्तादि छः अंगरूप शब्दब्रह्म, ऋग्वेदादिका—अपराविद्याके विषय होनेसे अपरविद्यारूपसे व्याख्यान करके, परा विद्या वह है—'जिससे अक्षर-ब्रह्मका अपरोक्ष-अनुभव हो' इत्यादि ग्रन्थसे पराविद्याका विषय परब्रह्मको श्रुति—दीखाती है। स्मृति भी यही कहती है—'दो ब्रह्म जानने चाहिये, शाब्दब्रह्म और परब्रह्म' इत्यादि।

उत्तर ग्रन्थ तो इन चार श्लोकोंका ही विस्तार है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि—संक्षेपसे एवं विस्तारसे शिष्य-बोध ही इसका उद्देश्य है। इनमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिके अनुसार नपुंसक लिङ्गवाले शब्दोंके प्रयोगसे प्रथम श्लोक है। 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादि श्रुतिके अनुसार स्त्री-लिङ्गवाले शब्दोंके प्रयोगसे द्वितीय श्लोक है। 'स एष इह प्रविष्ट' इत्यादि श्रुतिके अनुसार पुंल्लिङ्गवाले शब्दोंके प्रयोगसे तृतीय श्लोक है। इसके कथनसे ब्रह्मप्रतिपादक सभी शब्दोंका व्याख्यान होगया।

अक्षरार्थ यह है—मुरारी यानी जगत्में उपद्रवकरनेवाले मुर आदि असुरोंके संहार द्वारा जगत्का पालनकरनेवाला, जगत्का कारण मायाके सात्त्विकअंशमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप अन्तर्यामी श्रीविष्णु, उसका परम पद यानी मायासे कल्पित—जगत्कारणत्वादिसे शून्य, सबसे श्रेष्ठ, बिम्ब, स्वरूप है। उपाधिको प्रतिबिम्ब-पक्षपाती होनेके कारण बिम्बमें उपाधि, अपने धर्मोंका कल्पक नहीं है, इसलिये बिम्बेश्वरपक्षमें, अज्ञानमें प्रतिबिम्बित जीव-चैतन्यका निरूपक होनेके कारण बिम्बत्वसे व्यवह्रियमाण विष्णुभगवान्‌निर्दोष है। श्रीविष्णुका परमपद, तो बिम्ब प्रतिबिम्बकी कल्पनासे शून्य निरुपाधि स्वरूप है।

'बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा' इत्यादि उत्तर ग्रन्थ

१७६] इत्यादिनेश्वरस्य द्वैरूप्यं वक्ष्यति। परमत्वं चापरमत्वापादकोपाधिराहित्येन, पदत्वं चाविद्यातिरोधानापनयाय सर्वपदनीयत्वेन स्वरूपस्य द्रष्टव्यम्। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इति श्रुतेः, 'तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा' इति श्रुतेश्च। अत्र षष्ठ्यन्तप्रथमान्ताभ्यां तत्पदस्य वाच्यं लक्ष्यं च त्वंपदलक्ष्याभिन्नान्वययोग्यं दर्शितम्।

से स्वयं मूल-ग्रन्थकार बिम्बचैतन्य एवं प्रतिबिम्बचैतन्यके भेदसे ईश्वरके दो रूप कहेंगे। उस बिष्णुके स्वरूपमें-अपरमत्व (अश्रेष्ठत्व) का प्रापक उपाधि सम्बन्धसे रहित होनेके कारण-परमत्व है, और अविद्यारूपी आवरणके विनाशके लिये सर्वसे प्राप्तव्य-ज्ञातव्य होनेके कारण पदत्व है-ऐसा समझना चाहिये, इसमें प्रमाण है-यह श्रुति 'तद्विष्णोः परमं पदम्' तथा-'तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा' (सर्वको यही पदनीय यानी प्राप्तव्य-ज्ञातव्य स्वरूप है-जो यह आत्मा है) इस श्लोकमें 'मुरारेः' इस षष्ठ्यन्तसे तथा 'परमं पदं' इस प्रथमान्तसे तत्पदका वाच्य एवं लक्ष्य ईश्वरस्वरूप, त्वंपदलक्ष्यके साथ अभेद-सम्बन्धके योग्य है, यह दिखाया है।

अत्र च—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

इति स्मृतेः सर्वोपद्रवकारिमुराद्यसुरारित्वेन भगवत्स्मरणरूपं मङ्गलमाचरन् तत्पदाभिष्टवलक्षणं मङ्गलान्तरमाचरति—अभिष्टवीमीति = अभितः स्तौमीत्यर्थः। 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' इत्यनेन विभाषयेडागमः।

इसमें—

"जैसे अनिच्छासे भी स्पर्श किया हुआ अग्नि जलाता ही है, तद्वत् कामादिदोषयुक्त चित्तवाले प्राणियोंसे भी स्मरण किया हुआ हरि भगवान् उनके पापोंको नाश करता ही है" इस स्मृतिवाक्यके अनुसार-सर्वोपद्रवकारी मुरादि-असुरोंके शत्रु होनेके कारण 'मुरारि' पदसे ग्रन्थकार सर्वपापरूपविघ्नविनाशक-भगवत्स्मरणरूप एक-मंगल करता हुआ, तत्पद-ईश्वरात्माकी स्तुतिरूप अन्य-मंगल भी 'अभिष्टवीमि' इस पदसे करता है। 'अभिष्टवीमि' का दूसरारूप है अभितः स्तौमि, पाणिनिमहर्षिके 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' इस सूत्रसे विकल्पसे इट्का आगम होता है, इसलिये एक पक्षमें 'स्तौमि' और दूसरे पक्षमें 'स्तवीमि' ऐसा रूप होजाता है।

अत्र निर्विशेषे ब्रह्मणि गुणविशिष्टगुण्यभिधानलक्षणायास्स्तुतेरसम्भवात्स्तवीमीतिनिदिध्यासनेना-

इस निर्विशेष* ब्रह्ममें 'सर्वज्ञत्वादिगुणोंसे युक्त गुणीका कथनरूप, स्तुतिका असंभव होनेके कारण 'स्तवीमि' इसका अर्थ है-निदिध्यासन† के द्वारा-प्रत्य

* जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, आदि समस्त प्राकृतिक धर्मरूप विशेषोंका जिसमें नितान्त अभाव है, उसे निर्विशेष कहते हैं। † सच्चिदानन्दरूपस्वस्वरूपविषयकब्रह्माकार वृत्तियोंका सतत सजातीय प्रवाह, तथा घटपटादि अनात्मवृत्तियोंका तिरस्कार करना, ही निदिध्यासन है।

भितः प्रत्यगभिन्नतया आमीदण्येन वा तदेकाग्रोऽस्मो त्यर्थ इतिकेचित्।

गात्मरूप से ब्रह्मका ध्यान करता हूं, अथवा वारवार-उस ब्रह्म तत्त्वमें मैं एकाग्र होता हूँ, ऐसा कोई अन्य आचार्य कहते हैं।

तत्स्तुतिरूपं तत्स्वरूपनिरूपणपरं ग्रन्थं करोमीत्यर्थं इत्यन्ये।

'उस ब्रह्मतत्त्वकी स्तुतिरूप अर्थात् उसके स्वरूपका प्रधानरूपसे निरूपणकरनेवाले ग्रन्थको मैं करता हूँ' ऐसा अन्य आचार्य 'स्तवीमि' का अर्थ करते हैं।

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्तिधर्माः' इति टीकोक्तेरकल्पितधर्मस्य क्वाऽप्यनुपपत्तेः कल्पितसत्यत्वादिधर्मपुरस्कारेण गुणकथनरूपा स्तुतिर्मुख्यैव निगुणेऽपि वस्तुनि सम्भवतीति तु तथ्यम्। अतोऽस्थाने निदिध्यासनप्रतिज्ञा, ग्रन्थकरणारम्भप्रतिज्ञा, मुख्यवृत्तिसम्भवे जघन्यवृत्तिकल्पना च निरस्ता।

'आनन्द, विषयज्ञान एवं नित्यत्व ये धर्म हैं' इत्यादि पद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका टीका ग्रन्थके कथनानुसार कहीं भी अकल्पित धर्मकी उपपत्ति न होनेके कारण, सत्यत्वादि कल्पित धर्मोंके निरूपण पूर्वक गुणकथनरूपा स्तुति, निर्गुण-वस्तु ब्रह्मतत्त्वमें भी मुख्य हो सकती है, यही 'अभिष्टवीमि' इस पदका रहस्य है। इसलिये—'अभिष्टवीमि' इस पदमें—निदिध्यासनकी प्रतिज्ञा, ग्रन्थकरने के आरम्भकी प्रतिज्ञा, तथा मुख्य-शक्ति-वृत्तिके सम्भव होने पर जघन्य-लक्षणा-वृत्तिकी कल्पना करना अनुचित है—यह जो किसीने दूषण दिया था, उसका भी पूर्वकथनसे निरास होगया।

एतादृशभगवत्स्तुतौ च तद्भक्तिरेवासाधारणं कारणमित्याह–प्रणयादिति –प्रणयः–परा प्रीतिर्भक्तिरित्यर्थः। सा हि स्वरसतः परमानन्दरूपे परमात्मनि समुल्लसन्ती धारासन्ततिरूपा मनोवृत्ति र्भागवती भक्तिरित्युच्यते। तया चाविघ्नेन सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्त्यादिद्वारेण परं निःश्रेयसं लभ्यते।

इसप्रकारकीभगवत्स्तुतिमें भगवद्भक्ति ही असाधारण कारण है, इस बातको कहते हैं—प्रणयादिति प्रणय यानी परा (अनन्या) प्रीति-भक्ति, यह प्रणयका अर्थ है। वह प्रीति, स्वभावसे परमानन्दरूप परमात्मामें धाराप्रवाहरूपसे समुल्लासको प्राप्त होने वाली-भगवदाकर मनकी वृत्ति विशेष है। इसीको 'भक्ति' नामसे कहते हैं। भक्तिसे निर्विघ्नतापूर्वक, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति, आदिके द्वारा परं निःश्रेयस-मोक्षपद प्राप्त होता है।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। (श्वे० ६।२३) इति श्रुतेः। 'भजतां प्रीतिपूर्वकं। ददामि बुद्धियोगं तम्' (गी०)

'जैसी मनुष्यकी देव-परमात्मामें पराभक्ति है, वैसी परमात्मरूपगुरुमें पराभक्ति हो तो उस महात्माके हृदयमें शास्त्रप्रतिपादित सभी गूढतम अर्थ प्रकट होजाते हैं' इस श्रुतिसे, 'प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले–अधिकारियोंको

इति स्मृतेः । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (यो० सू० पा० १) इति योगसूत्राच्च । निर्गुणेऽपि ब्रह्मणि भक्तिरुपपद्यत इति व्याख्यातं भगवद्गीतासु 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यादिना ।

मैं (भगवान्) ज्ञान-योग प्रदान करता हूँ' इस गीता रूपी स्मृतिसे, तथा 'ईश्वरकी भक्तिसे परमेश्वरका प्रत्यगात्मरूपसे साक्षात्कार तथा विघ्नोंका अभाव भी होता है, इसयोगसूत्रसे 'निर्गुण ब्रह्ममें भी भक्ति उपपन्न हो सकती है' यह बात 'चतुर्विधा भजन्तेमाम्' इत्यादि श्लोकसे भगवद्गीतामें हमनें व्याख्यानके द्वारा कही है ।

'अभिष्टवे' प्रकृष्टनयानपेक्षणाद्रूढिभङ्गदोषाच्च न 'प्रकृष्टो नयः प्रणयः' इति व्याख्यानमुपादेयम् ।

अभिष्टवमें प्रकृष्ट-नयकी अपेक्षा न होनेसे तथा रूढि भंगरूपी दोष होनेसे 'प्रकृष्ट-नयका नाम प्रणय है' ऐसा व्याख्यान उपादेय नहीं है, किन्तु त्याज्य है ।

तत्र निर्विशेषे वस्तुनि जगत्त्वेन जीवत्वेन परमेश्वरत्वेन च प्राप्तां विक्रियां निषेधति–अविक्रियमिति । जगति जन्माद्याः विक्रियाः, जीवे जाग्रदाद्याः, ईशे सृष्ट्याद्या विक्रियाः मायया प्रसक्ताः निर्विशेषे वस्तुनि सर्वथा न सम्भवन्तीति तदविक्रियम् । एतेन सर्वविकारशून्यत्वात् सर्वेन्द्रियाग्राह्यतारूपा सूक्ष्मता, सर्वोपाधिसम्बन्धशून्यतारूपा नित्यमुक्तता च दर्शिता ।

उस निर्विशेष-वस्तु ब्रह्ममें जगत्व जीवत्व एवं परमेश्वरत्व द्वारा प्राप्त हुए विकारको 'अविक्रियम्' इस पदसे निषेध करते हैं । जगत्में जन्मादि विकार, जीवमें जाग्रत् आदि विकार, ईश्वरमें सृष्टि आदि विकार जो मायासे प्राप्त हैं–वे सब निर्विशेष–वस्तुरूपब्रह्ममें सर्वथा नहीं होसकते हैं, अतः वह ब्रह्मतत्त्व अविक्रिय है । इस कथनसे–सर्वविकारोंका अभाव होनेके कारण सर्व–इन्द्रियोंसे अग्राह्यतारूपी सूक्ष्मता तथा सर्व उपाधियोंके सम्बन्धका अभावरूप नित्यमुक्तता भी–दिखाई गई ।

एवं सामान्यतः सर्वविक्रियाशून्यतामुक्त्वा विशेषेणाप्याह–अनृतेत्यादिना । अत्रानृतविरोधि = परमार्थसत्यमबाध्यम् । जड़विरोधि स्वप्रकाशं ज्ञानम् । रूपं सर्वानुस्यूतसन्मात्रम् । अन्तत्रयविरुद्धम् । अन्तानां देशकालवस्तुपरिच्छेदानांयत् त्रयं तद्विरुद्धं । देशपरिच्छेदोह्यत्यन्ताभावस्तदप्रतियोगित्वेन विभु, कालपरिच्छेदोऽत्रध्वंस प्रागभावो तदप्रतियोगित्वेन नित्यम् , वस्तुपरिच्छेदश्चान्योऽन्याभावः,तदप्र-

इसप्रकार ब्रह्ममें सामान्यरूपसे सर्वविकारोंका अभाव कहकर 'अनृत' इत्यादि पदोंसे विशेषरूपसे भी विकारोंका अभाव कहते हैं । यहां अनृत (मिथ्या) का विरोधी, परमार्थ सत्य, अबाध्य तत्त्व है । जड़का विरोधी स्वप्रकाश ज्ञान है । रूपका अर्थ है–सर्वमें अनुस्यूत सन्मात्र तत्त्व । अन्तत्रयविरुद्धम् यानी देशकृत कालकृत एवं वस्तुकृत परिच्छेद-त्रयसे विरुद्ध । देशकृत परिच्छेद है–अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगी न होने के कारण वह ब्रह्म-विभु-व्यापक है । कालकृत परिच्छेद है, ध्वंस और प्रागभाव, उसका प्रतियोगी न होनेके कारण वह नित्य-अविनाशी है । वस्तु परिच्छेद है–अन्यो-

तियोगित्वेनाद्वितीयम्। एतेन प्रपञ्चधर्माणामनृतत्वजडत्वव्यावृत्तरूपत्वाविभुत्वानित्यत्वसद्वितीयत्वानां व्यावृत्तिः सिद्धा।

ऽन्याभाव (भेद) भेदका प्रतियोगी न होनेके कारण वह-द्वितीयशून्य-एक-अद्वितीय है। इस कथनसे अनृततत्व, जड़त्व, व्यावृत्तरूपत्व, अनित्यत्व, अविभुत्व, सद्वितीयत्व, रूप प्रपञ्चके धर्मोंकी उस ब्रह्मसे व्यावृत्ति सिद्ध होगयी।

मलबन्धनदुःखताविरुद्धम् इति जीवधर्माणां व्यावृत्तिः। मलः = कर्तृत्वभोक्तृत्वरागादिलेपोऽशुद्धिः तद्विरुद्धं कतृत्वादिलेपशून्यं शुद्धं। बन्धनं = धर्माधर्मतत्फलसम्बन्धस्तद्विरुद्धं मुक्तं। दुःखताविरुद्धम् परमानन्दरूपं न तु तदाश्रयः, नापि दुःखरूपस्तदाश्रयो वा। जीवो हि रागादिमलैर्धर्माधर्मादिबन्धनेन सुखदुःखाश्रयत्वेन च प्रसिद्धः।

'मलबन्धनदुःखताविरुद्धम्' इस पदसे जीवके सभी धर्मोंकी व्यावृत्ति सिद्धि होती है। मलका अर्थ है—कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग आदि दोषोंके लेप (सम्बन्ध) रूपा अशुद्धि, उससे विरुद्ध यानी कर्तृत्वादिके लेपसे रहित शुद्धस्वरूप। बन्धनका अर्थ है—धर्म अधर्म और उनके फलका सम्बन्ध, उससे विरुद्ध यानी मुक्तस्वरूप। दुःखताविरुद्धका अर्थ है—परमानन्दरूप, न कि परमानन्दका आश्रय। अथवा वह दुःखताविरुद्धस्वरूप, न तो दुःखरूप है, न तो दुःखका आश्रय है। जीवही रागादिमलोंसे धर्माधर्मादिबन्धनसे तथा सुखीदुःखीपनेसे प्रसिद्ध है।

अतिनिकटमिति ईश्वराद्व्यावृत्तिः। वादिभिर्हि पराग्रूपः परोक्ष एवेश्वरः कल्पितः। इदं त्वतिनिकटं साक्षादपरोक्षं प्रत्यगात्मस्वरूपमत्यव्यवहितमित्यर्थः।

'अतिनिकट' पदसे ईश्वरसे ब्रह्मस्वरूपकी व्यावृत्ति सूचित की गई है। नैयायिकादिवादियोंने आत्मासे बहिर्भूत (पृथक्) परोक्ष ईश्वरकी कल्पनाकी है। यह ब्रह्मपद तो अतिनिकट अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष, व्यवधान रहित, प्रत्यगात्मस्वरूप है।

एतेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१ , 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' [मुं० १।६] 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (का० ३।५।१) न वर्द्धते कर्मणा

पूर्वोक्त कथनसे—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त स्वरूप है' (तै० २।१) सो यह ब्रह्म अपूर्व (कारण शून्य) अनपर (कार्यरहित) अनन्तर (आन्तरभेदशून्य) अबाह्य (बाह्यभेदरहित) है' (बृ० २।५।१९) 'हे सोम्य! सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम यह सब, एक-ही अद्वितीय सत्स्वरूप था' (छां० ६।२।१) 'ब्रह्म तत्व नित्य, विभु, सर्वगत, तथा अतीवसूक्ष्म है। (मुं० १।६) 'वस्तुतः विमुक्त हुआ भी कल्पित बन्धसे मुक्त होता है' (का० ३।५।१) 'वह आत्मा शुभकर्मसे न

नो कनीयान्' (बृ० ४।४।२२) 'शुद्धमपापविद्धम्' (ईशा० १।८) 'एष एव परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३३) 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।२) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।२) 'अयमात्मा ब्रह्म' (मां० १।२) 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (क० १।२।१) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१६) इत्याद्याः श्रुतयोऽसत्यत्वादितत्तद्भ्रमापोहेनाखण्डंप्रत्यगभिन्नं ब्रह्म मुमुक्षुजिज्ञास्यं प्रतिपादयन्ति, न तु सत्यत्वादिरूपेण, तस्य निर्विशेषत्वेन सर्वधर्मानाधारत्वादिति प्रतिपादितं भवति ।

बढता है, तथा न तो अशुभकर्मसे घटता है' (बृ० ४।४।२३) 'ब्रह्म शुद्ध तथा पापके सम्बन्धसे रहित है' (ई०१।८) 'यहही परम आनन्द है' (बृ० ४।३।३३) 'जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष रूप है' (बृ० ३।४।२) 'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है' (बृ० ३।४।२) 'यह आत्मा ब्रह्म है' (मां० १।२) 'ज्ञानस्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है' (क० १।२।१८) 'ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, तथा निरञ्जन है' (श्वे० ६।१९) इत्यादि श्रुतियाँ, असत्यत्वादि विषयकतत्तद्भ्रमके निवारणद्वारा मुमुक्षु-जिज्ञास्य, अखण्ड प्रत्यगभिन्न, ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, सत्यत्वादिधर्मरूपसे उसका प्रतिपादन नहीं करती हैं, क्योंकि वह ब्रह्म निर्विशेष होनेसे सर्वधर्मका अनाधार है—यह प्रतिपदित हो जाता है ।

सर्वविशेषणानां समुच्चयमेकेन श्लोकेन वक्ष्यति 'नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः' इत्यादिना ।

'नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः' इत्यादि उत्तर ग्रन्थके एकही श्लोकसे, पूर्वोक्त अनृतजडविरोधिरूप आदि सर्व विशेषणोंका समुच्चय ग्रन्थकार स्वय कहेंगे ।

अत्र प्रथमं नगणद्वयवता पुष्पिताग्राख्येन छन्दसाऽर्द्धसमेन कविरीत्याऽपि मंगलमाचरितम् । अकारादिपदचतुष्टयोपन्यासश्च श्लोकग्रन्थकरणकौशलप्रदर्शनाय, प्रणवप्रथमावयवोच्चारणेन मंगलातिशयाय च । 'अ इति ब्रह्म' 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति च श्रुतेः ॥ १ ॥

इस प्रथमश्लोकमें दोनगणवाले 'पुष्पिताग्रा' नामक अर्द्धसमछन्दसे कवियोंकी रीतिसे मंगलका अनुष्ठान किया है । आदिमें अकारवाले 'अनृतादि' चार पदोंका प्रयोग श्लोकयुक्त पद्यात्मक ग्रन्थ करनेकी कुशलताका प्रदर्शनके लिये है, तथा ॐ मन्त्रका प्रथम अवयव-अकारके पुनः पुनः उच्चारणसे अतिशय (प्रचुर) मंगलके लिये भी है । श्रुति भी कहती है कि—'अ यह अक्षर ब्रह्म है' 'अकारही सर्ववाणीरूप है' ।

यह प्रथमश्लोकका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

एवं जिज्ञास्यब्रह्मप्रदर्शनेन प्रथमसूत्रार्थो दर्शितोऽतः परं द्वितीयसूत्रार्थः प्रदर्श्यते । पूर्वत्र जगद्भ्र-

इसप्रकार जिज्ञास्यब्रह्मके प्रदर्शनद्वारा शारीरकके प्रथमसूत्र (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा) का अर्थ दिखाया, इसके बाद द्वितीयसूत्र (जन्माद्यस्य यतः) का अर्थ दिखाते हैं । प्रथम श्लोकमें ब्रह्ममें-जगत्के

र्माणां जीवधर्माणामीश्वरधर्माणां चापवादो दर्शितः। स चाध्यारोपमन्तरेण न सम्भवति, प्रसक्तस्यैव प्रतिषेधार्हत्वादित्यभिप्रेत्याध्यारोपमाह—

धर्मोंका जीवके धर्मोंका तथा ईश्वरके धर्मोंका-निषेध दिखाया। परन्तु वह निषेध अध्यारोप विना नहीं हो सकता, क्योंकि-प्रसक्त (प्राप्त) ही निषेधके योग्य होता है, इस शंकाको हृदयमें रखकरही द्वितीय श्लोकने अध्यारोप कहते हैं—

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा ।
स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः ॥२॥

अपने अज्ञानसे कल्पित-जगत्, परमेश्वरत्व जीवत्व तथा इनके पारस्परिक भेदसे, वस्तुतः अकलुष (अमलिन-शुद्ध) भी कलुष हुई है भूम-(व्यापक) सत्ता जिसकी, स्वाभाविक यानी नित्यसिद्ध, स्वमहिमस्थिति अर्थात् स्वस्वरूपसे अप्रच्युति है-जिसकी, तथा जिसमें मोह (अज्ञान) अस्त यानी अध्यस्त (कल्पित) है, ऐसी भुवन (आकाशादिप्रपञ्च) की एकमात्र योनि-अर्थात् कारणरूपा प्रत्यक् चिति (स्वप्रकाशज्ञानशक्ति) विजयते अर्थात् सर्वोत्कृष्टरूपसे स्वमहिमामें वर्तमान है ॥२॥

मधुसूदनी-टीका

स्वाज्ञानेति—स्वस्य स्वस्मिन्यदज्ञानं स्वाश्रयविषयकमविद्यामायाशब्दितमनादिभावरूपमनिर्वाच्यमावरणविक्षेपशक्तिमदज्ञानं तेनावरणशक्त्याऽऽत्मस्वरूपभानं तिरोधाय विक्षेपशक्त्या कल्पितान्यध्यस्तानि यानि जगत्परमेश्वरत्वजीवत्वानि तैः, अनुयोगित्वेन प्रतियोगित्वेन च तन्निमित्तो जीव जगद्भेदो जीवपरमेश्वरभेदो जीवपरस्परभेदो, जगत्परस्परभेदो, जगत्परमेश्वरभेदश्चेति यः पञ्च-

हिन्दी-अनुवाद

स्वाज्ञानेति—स्व (चेतन) का स्वमें जो अज्ञान है, अर्थात् अज्ञान चेतनमें ही रहता है और चेतनको ही विषय (आच्छादित) करता है, अतएव अज्ञान, स्वाश्रयविषयक है, और अविद्या एवं माया शब्दसे कहा जाता है, वह अज्ञान, अनादी, भावरूप, अनिर्वचनीय तथा आवरणशक्ति एवं विक्षेपशक्तिवाला है। तिस अज्ञानसे अपनी आवरणशक्ति द्वारा आत्मस्वरूपके पूर्ण भानका आच्छादान करके, अपनी विक्षेप-शक्ति द्वारा कल्पित-यानी अध्यस्त जगत्, परमेश्वरत्व; तथा जीवत्वकी कल्पनाकी है, जीवादिनिष्ठ अनुयोगिता, एवं प्रतियोगिता द्वारा* जीव और परमेश्वरका भेद, जीवोंका परस्पर भेद, जगत् का परस्पर (एक-दूसरेसे) भेद, तथा जगत् और पर-

*भेद जिसमें रहता है, वह अनुयोगी कहलाता है, अनुयोगीमें अनुयोगिता नामक निरूपक धर्म रहता है। एवं जिसका भेद है, वह प्रतियोगी कहलाता है, प्रतियोगीमें प्रतियोगिता नामक निरूपक धर्म रहता है।

विधो भेदस्तेन च कलुषीकृतोऽकलुषोऽपि कलुषः कृतोऽध्यारोपितदोषेणासत्कल्पतामापादितोभूमा= बाहुल्यं यः सस्ताद्दककलुषीकृतभूमा भावः= सद्भावो यस्याः सा तथा।

जगत् जड़त्वात्स्वरूपेणैव कल्पितम्, जीवेश्वरौ तु चैतन्यरूपत्वात्स्वरूपेण सत्यौ,केवलमेकमस्मिन्नेव-चैतन्ये बिम्बप्रतिबिम्बादिभावेन जीवत्वमीश्वरत्वं च कल्पितमिति बोधयितुं द्वयोःप्रयोगः। चितेर्भावो न कलुषीकृतः सर्वभासकत्वेन सर्वदा प्रकाशमानत्वात्, किन्तु तत्तद्भेदकल्पनया तदपरिच्छिन्नत्वरूपो भूमैव कलुषीकृतः, पूर्णत्वेनाप्रकाशमानत्वात्।

तदुक्तं वार्तिके—

तस्यैकमपि चैतन्यं बहुधा प्रविभज्यते।
अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्॥ इति

भूम्नो भाव इति व्याख्यानमनुपादेयं बहो र्भावस्य भूमशब्दवाच्यत्वेन भावशब्दवैयर्थ्यापत्तेः।

कलुषीकरणेन किं भूमा नाशितो? नेत्याह—स्वाभाविकेति। भूम्नः कलुषीकरणं हि परिच्छिन्नत्वारोपमात्रं न तु स्वरूपहानिः। आरोपेण वस्तुसत्ताऽ

मेश्वरका भेद, इन पांचप्रकारके भेदोंकी कल्पनाकी है, जिससे आत्माकी व्यापकता कलुषीकृत हो गई है—अर्थात् अकलुष भी कलुष किया गया यानी अध्यारोपित (कल्पित) दोष से असत्की तुल्यताको प्राप्त किया गया जो भूमा = बाहुल्य अर्थात् व्यापकत्व, उसका नाम है कलुषीकृतभूमा, तद्रूप है—सद्भाव—सत्ता जिसकी—ऐसी प्रत्यक् चिति अपना अन्तरात्मा है।

जड़ होनेसे जगत् स्वरूपसे कल्पित है। चैतन्यरूप होनेसे जीव और ईश्वर स्वरूपसे सत्य हैं, केवल (सिर्फ) एक ही चेतनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बादि भाव द्वारा जीवत्व तथा ईश्वरत्व कल्पित है, इस बातका बोधन करनेके लिये 'परमेश्वरत्व तथाजीवत्व' इन दोनोंका प्रथक् प्रयोग किया है। चेतनका स्वरूप तो कलुषित नहीं किया गया है, क्योंकि वह तो सर्वका भासक होनेके कारण सर्वदा प्रकाशमान है। किन्तु जीवादिकोंकी तत्तद्भेदकल्पनासे अपरिच्छिन्नत्वरूपभूमा (व्यापकत्व) ही कलुषित (आच्छादित) होगया है, क्योंकि प्रत्यक् चिति व्यापकरूपसे नहीं भासती है।

इसलिये सुरेश्वराचार्यप्रणीत वार्तिक ग्रन्थमें भी कहा है—

जैसे समुद्रका जल उत्पातके समय अङ्गारोंके समान भिन्न भिन्न—सा प्रतीत होता है, तद्वत् आत्माका स्वरूप चैतन्य वस्तुतः एक भी अज्ञानसे, अनेकरूपसे विभक्त-सा प्रतीत होता है।

'भूम्नोभाव' ऐसा व्याख्यान उपादेय नहीं है, क्योंकि बहुका भावही भूमशब्दका वाच्य होनेके कारण, भाव शब्द व्यर्थ हो जाता है।

शंका—कलुषीकरणसे क्या भूमा नष्ट हो गया? समाधान—ना, स्वाभाविकेति भूमाका कलुषीकरण सिर्फ परिच्छिन्नत्वका आरोप—(कल्पना) मात्र ही है, स्वरूप का नाश नहीं है। आरोपसे वस्तु-सत्ताका विनाश नहीं

नपायात् 'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते, (शा० भा०) इति न्यायात् ।

स्वाभाविकी = नित्यसिद्धा अध्याससहस्रेणाप्यपनेतुमशक्या । स्वमहिमस्थितिः = स्वरूपादप्रच्यूतिर्यस्याः सा तथा । तथापि सर्वाध्यासकारणस्याज्ञानस्यानारोपित्वात्तेनैव द्वितीयेनाद्वितीयस्वरूपो भूमा कलुषः कृत इत्यत आह—अस्तमोहेति-अस्तः = अध्यस्तः, अपरमार्थसन् मोहोऽज्ञानाख्यो यस्यां सा तथा अज्ञानाध्यासस्याप्यज्ञानमूलत्वादनादित्वाच्च नात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः ।

तदुक्तं वार्तिके—

अविद्याऽस्तीत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥ इति ॥

ननु अज्ञानाध्यासस्य किमधिष्ठानं ? न जीव, ईश्वरो वा, अनयोरध्यासपरिनिष्पन्नत्वेनान्योऽन्या-

होता । 'जहां जो अध्यस्त है, उस अध्यस्तके दोषसे या गुणसे वह अध्यासका अधिष्ठान अणुमात्रभी सम्बन्धवाला नहीं हो सकता है' इस प्रसिद्ध-न्यायसे पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध होता है ।

स्वाभाविकीका अर्थ है—नित्यसिद्धा, अर्थात् हजारों अध्यासोंसे भी प्रत्यगात्माके स्वरूपका अपनय (विनाश-या मलिनपना) नहीं हो सकता है । स्वमहिमस्थितिका अर्थ है—जिसकी स्वस्वरूपसे कदापि प्रच्युति न हो । शंका—अस्तु, तथापि सर्व अध्यासका कारण—अज्ञानको अनारोपित होनेके कारण, उस पारमार्थिक सत्य द्वितीय-अज्ञानसे अद्वितीय-भूमा कलुषित हो जायगा, अर्थात् 'एकमात्र भूमा ही पारमार्थिक है' इस सिद्धान्तकी हानि हो जायगी । उत्तर—'अस्तमोहा' अस्त यानी अध्यस्त है, अपरमार्थसद्रूप—अज्ञाननामक मोह जिसमें, उस प्रत्यक्चितिका नाम यहां अस्तमोहा है । अज्ञानके अध्यासमें भी अज्ञानही कारण है, अतएव अज्ञान अनध्यस्त (सत्य) नहीं है, अज्ञानको अनादि होनेके कारण आत्माश्रयादि दोषोंका प्रसंग भी नहीं आ सकता है, क्योंकि बीजाङ्कुरकी तरह पूर्व-पूर्व अज्ञानकी धारासे उत्तरोत्तर अज्ञानधाराका आरोप होता चला आता है ।

यह बात वार्तिकमें भी कहा है—

'अविद्या है' ऐसी कल्पना भी अविद्याके सम्बन्ध से ही होती है, ब्रह्मदृष्टिसे तो यह अविद्या किसीभी प्रकार से नहीं रह सकती है ।

शंका—अज्ञानके अध्यासका अधिष्ठान कौन है । क्या जीव है, या ईश्वर है ? दोनोंही नहीं हो सकते, क्योंकि—जीव तथा ईश्वरको अज्ञानाध्यासके बादही सिद्ध होनेके कारण अन्योऽन्याश्रय दोष होता है । अज्ञानाध्याससे जीव-ईश्वरकी सिद्धि तथा जीव या ईश्वररूप अधिष्ठानकी सिद्धि होने पर अज्ञानाध्यासकी सिद्धि,

श्रयात्। नापरः, तदनिरूपणादित्याशङ्क्याह—प्रत्यक् चितिरिति। प्रतीची जीवेश्वरविभागरहिता चितिः = स्वप्रकाशज्ञप्तिः सा भुवनस्याज्ञानसहितस्याध्यस्तस्याकाशादि प्रपञ्चस्य विवर्त्तस्य योनिः = अज्ञान द्वारोपादानम्। एकैव योनिर्न द्वितीयसापेक्षा, सत्यत्वेनाज्ञातत्वेन च तस्या एवाधिष्ठानत्वोपपत्तेः।

यह अन्योन्याश्रयदोषका स्वरूप है। इनसे अन्य भी कोई अधिष्ठान नहीं बन सकता है, क्योंकि-उस अन्य का अबतक निरूपणही नहीं है—ऐसी शंकाके उपस्थित होने पर सिद्धान्ती उत्तर कहता है—प्रत्यक्चितिरिति (प्रत्यक् शब्दका स्त्रीलिंगमें प्रतीची रूप बनता है) प्रतीची यानी जीव-ईश्वरके विभागसे रहिता, जो चिति अर्थात् स्वप्रकाश ज्ञान है, वही भुवन यानी अज्ञान सहित, अध्यस्त विवर्त आकाशादिप्रपञ्चकी योनि-यानी अज्ञानद्वारा उपादान कारण है। वह चेतनशक्ति एकही सबकी योनि है, वह अन्यद्वितीयकी अपेक्षा नहीं करती, अतएव प्रत्यक्चितिमें ही सत्यत्व तथा अज्ञातत्वरूपसे सर्वाधिष्ठानताकी उपपत्ति होती है।

तथा च वक्ष्यति—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (अ० १ श्लो० ३१९) इति।

वार्तिकं च—

आऽन्त्यात्कार्यात्तदेव स्याद्यदाद्यं प्रति कारणम्। इति।

सा च विजयते परमार्थसत्यस्वप्रकाशपरमानन्द रूपत्वेन सर्वोत्कृष्टा भवति, अतस्तां प्रत्यस्मि प्रणत इति ध्वन्यते। तस्मादेवमध्यारोपसम्भवादनृतजड विरोधीत्यादिना तदपवादो युक्त एव।

तथा च स्वयं मूल ग्रन्थकार, इस विषयको "प्रत्यक्चितिही अज्ञानकी आश्रयता तथा विषयताको अपनेमें धारण करती है. वस्तुतः वह जीवेश्वरादिविभाग रहित-केवल-शुद्ध रूप है" इस ग्रन्थसे कहेंगे। इसी विषय को वार्तिक ग्रन्थ भी कहता है—"अन्तिम कार्यसे लेकर सभी कार्यके प्रति वही कारण होता है—जो आदिम कार्यके प्रति कारण हुआ है।" ऐसी वह चिति (चेतनशक्ति) विजयते अर्थात् परमार्थसत्य, स्वप्रकाश, परमानन्दरूपसे सर्वोत्कृष्ट होकर रहती है, इसलिये मैं उसके प्रति प्रणत (नम्रीभूत) हूँ, ऐसा ध्वनित-सूचित होता है। इसलिये पूर्वोक्तप्रकारसे अध्यारोपका संभव होनेके कारण उसका 'अनृतजड़विरोधि' आदिसे अपवाद करना युक्तही है।

भुवनैकयोनिरिति—तटस्थलक्षणं, प्रत्यक्चितिरिति-

'भुवनैकयोनि' इस पदसे तटस्थलक्षण, तथा 'प्रत्यक्चिति' पदसे स्वरूप लक्षण कहा है, ऐसा

स्वरूपलक्षणमिति विवेकः । एतेन मिथ्याप्रपञ्चोपादानत्वेन तत्पदवाच्यनिरूपणात् 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू०) इति व्याख्यातम् ॥ २ ॥

पृथक् पृथक् समझना चाहिये । इस पूर्वोक्त कथनसे मिथ्या द्वैत प्रपञ्चका उपादानकारण निरूपण द्वारा तत्पदवाच्य ईश्वरका निरूपण किया, इससे 'जन्माद्यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्रके द्वितीय-सूत्रका भी व्याख्यान हो गया ॥ २ ॥

एवं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च विषयमुक्त्वा प्रयोजनकथनाय वाक्यार्थमाह—

इसप्रकार त्वंपदार्थ और तत्पदार्थरूप विषयको कह कर, अब प्रयोजन कहनेके लिए वाक्यार्थ कहते हैं—

प्रत्यक्प्रमाणकमसत्यपराक्प्रभेदं, प्रक्षीणकारणविकारविभागमेकम् ।
चैतन्यमात्रपरमार्थनिजस्वभावं, प्रत्यञ्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥३॥

जिसमें स्वप्रकाशचैतन्यरूप प्रत्यगात्मत्वस्वरूप ही प्रमाण है, अर्थात् जो अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न करता हुआ स्वतःसिद्ध है, जिसमें पराक्रूप-अनात्म-दृश्य पदार्थका भेद, असत्य अर्थात् सर्वथा बाधित है, तथा जिसमें कार्य कारणका प्रवाह सर्वथा क्षीण हो गया है, ऐसा एक-अद्वितीय चैतन्यमात्र, परमार्थ, निज-स्वरूप, प्रत्यक्, अच्युत-तत्त्वको मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ ॥३॥

प्रत्यगिति । प्रत्यञ्चमिति त्वंपदार्थः अच्युतमिति तत्पदार्थः । एकमिति तयोरगौणमैक्यं वाक्यार्थः । तमहं श्रवणादिपरिपाकवशात् स्थितप्रज्ञो नित्यं = सर्वदा, प्रणतोऽस्मि = देहेन्द्रियादिप्रतिभासावस्थायां प्रह्वीभावेन पूजयामि ।

'प्रत्यगिति' यह श्लोक व्याख्यानका सूचक प्रतीक चिह्न है । 'प्रत्यक्' पदसे त्वंपदार्थ, 'अच्युत' पदसे तत्पदार्थ, तथा 'एक' पदसे तत्पदार्थ और त्वंपदार्थका मुख्य—अभेदरूप वाक्यार्थ कहा । श्रवणादि साधनोंका परिपाक होने पर स्थितप्रज्ञ हुआ मैं नित्य यानी सर्वदा 'प्रणतोऽस्मि' अर्थात् देह—इन्द्रिय आदि प्रपञ्चकी प्रतीति—अवस्थामें अच्युततत्त्वकी मैं नम्रीभावसे पूजा करता हूँ ।

ननु—कथमेकत्वं मुख्यं सत्यज्ञानाद्यपुनरुक्तानेकशब्दप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह—चैतन्येति । वाच्यार्थे भेदप्रतिभासेऽपि चैतन्यमात्रस्यैव परमार्थानौपाधिकस्वभावस्य लक्ष्यत्वान्नैक्यविरोध इत्यर्थः । चैतन्यमात्रमेव परमार्थोऽत्यन्तावाध्यः, परमानन्दरूपत्वेन परमप्रयोजनरूपो वा निजोऽनुपाधिकः स्वभावः—स्वरूपं यस्य तमित्यक्षरार्थः ।

शंका—सत्य, ज्ञान, आदि अनेक, अपुनरुक्त, शब्दोंसे प्रतिपाद्य होनेके कारण, एकत्व मुख्य क्योंकर होगा? समाधान—चैतन्येति । वाच्यार्थमें भेद (अनेकत्व) की प्रतीति होने पर भी परमार्थ, उपाधिशून्यस्वरूप चैतन्यमात्रको लक्ष्य होनेसे एकतामें विरोध नहीं है, चैतन्यमात्रही परमार्थ अर्थात् अत्यन्त अबाध्य है । अथव परमानन्दरूप होनेसे परमप्रयोजनरूप उपाधिरहित निजस्वभाव अर्थात् स्वरूप है जिसका, तिस प्रत्यक् चैतन्य रूप अच्युतको मैं प्रणाम करता हूँ, यह इन अक्षरोंका अर्थ है

ननु—जीवस्य कार्यकारणादिविभागवत्त्वेन सद्वितीयत्वादीश्वरस्य च परोक्षत्वेन पराक्त्वात्कथं तयोरैक्यमिति तत्राह—प्रक्षीणेति। असत्येति च। प्रक्षीणः=प्रज्ञानेन बाधितः प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपः कारणविकारविभागः=हेतुफलसन्तानो मायाऽऽकाशादिप्रपञ्चो वा यस्मिंस्तं निर्विभागं संसारदशायामपि परमार्थतो द्वैतरहितमित्यर्थः।

शंका—कार्य कारणादि विभागवाला होनेके कारण जीवको द्वैतसे युक्त होनेसे, तथा परोक्ष होनेके कारण ईश्वरको आत्मासे भिन्न अनात्मरूप होनेसे जीव तथा ईश्वरका ऐक्य कैसे हो सकता है ? समाधान—प्रक्षीणेति, असत्येति च। प्रक्षीण अर्थात् अपरोक्षज्ञानसे बाधित है—प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि रूप, कारणविकारविभाग अर्थात् हेतुफल (कारण कार्य) का प्रवाह, अथवा माया (कारण) और आकाशादिप्रपञ्च (कार्य) जिसमें, ऐसा निर्विभाग—यानी संसारदशामें भी परमार्थसे द्वैतरहित ही प्रत्यगात्मा है, यह अर्थ है।

एवमसत्यः-सर्वथाबाधितः,पराग्रूपस्याहमिति-व्यपदेशानर्हत्वेन प्रत्यग्रूपाद्भेदोयस्मिंस्तं साक्षादपरोक्षमित्यर्थः। प्रतीचोऽद्वितीयाच्युताभेदबोधफलं प्रक्षीणेति। अच्युतस्यापरोक्षप्रत्यगभेदबोधफलम् असत्येति विवेकः।

इसप्रकार असत्य यानी सर्वथा बाधित है—'अह' ऐसा व्यवहारके अयोग्य होनेसे अनात्मरूपका तथा प्रत्यगात्मस्वरूपसे—भेद जिसमें, ऐसे अच्युततत्त्वका नाम असत्यपराक्प्रभेद है। अर्थात् सर्वरूप प्रत्यगभिन्न अच्युततत्त्व साक्षात् अपरोक्ष है, यह निचोड़ अर्थ निकला। अद्वितीय-अच्युतपरमात्मासे प्रत्यगात्माके अभेद-ज्ञानका फल, प्रक्षीण इत्यादिसे, तथा अपरोक्ष प्रत्यगात्मासे अच्युतके अभेद-ज्ञानका फल—असत्य इत्यादिसे, बतलाया गया है, ऐसा पृथक् पृथक् समझना चाहिये।

ननु—प्रक्षीणकार्यकारणविभागस्य प्रमातृत्वादिशून्यस्य प्रमाणाभावादसिद्धिः। प्रमाणाभ्युपगमेच कार्यकारणविभागापत्तिरित्याशङ्क्याह—प्रत्यक्प्रमाणकमिति। प्रत्यक्स्वरूपमेव प्रमाणं यस्मिंस्तं, स्वप्रकाशचैतन्यरूपतया स्वभिन्नमानानपेक्षं स्वत एव सिद्धमित्यर्थः। एतेनाखण्डवाक्यार्थकथनात् 'तत्तु सम-

शंका—कार्यकारण विभागसे रहित, तथा प्रमातृत्वादिसे शून्य, वस्तुमें कोई प्रमाण न होनेके कारण अच्युततत्त्वकी असिद्धि हो जायगी, यदि कोई प्रमाण मानते हैं, तो अच्युततत्त्वमें कार्यकारणविभाग की भी प्राप्ति हो जाती है। समाधान—प्रत्यक्प्रमाणकमिति—प्रत्यगात्माका स्वरूपही है प्रमाण जिसमें, वह है प्रत्यक् प्रमाणकम्, अर्थात् अच्युतको स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप होनेके कारण अपनेसे भिन्न प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, यानी प्रत्यगभिन्न अच्युततत्त्व स्वतःसिद्ध है, यह इस श्लोकका निचोड़ अर्थ निकला। इसप्रकार अखण्डवाक्यार्थके कथनसे 'तत्तु समन्वयात्' इस ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ सूत्र

न्वयात्' (ब्र० सू०) इति व्याख्यातम् । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ३ ॥

एवं त्वंपदार्थस्तत्पदार्थोऽखण्डवाक्यार्थश्चेति शास्त्रस्य प्रमेयमुक्तम् । अधुना तत्प्रमाणं वेदान्तवाक्यं दर्शयितुं निखिलवेदाभिमानिनीं वाग्देवतां प्रणमति—

के अर्थका भी व्याख्यान हो गया । इस श्लोकका छन्द-वसन्ततिलका है ॥ ३ ॥

इसप्रकार त्वंपदार्थ, तत्पदार्थ और अखण्ड-वाक्यार्थरूप शास्त्रका प्रमेय कहा । अब उस प्रमेयमें प्रमाणरूप वेदान्तवाक्यको दिखलानेके लिये समस्तवेद की अभिमानिनी वाग्देवता-भगवती शारदाको प्रणाम करते हैं—

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तु-प्रकाशने कार्यवशेन यस्याः ।
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतो र्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम् ॥ ४ ॥

जो परमात्मा समस्त विश्वका विवर्त उपादान कारण हैं, वही है—हेतु यानी उपादानकारण जिस वाणीका, उसकी अर्थप्रतिपादकतारूपा स्वाभाविकी शक्ति-ज्ञानरूपकार्यद्वारा समस्त वस्तुओंके प्रकाश होने पर जानी जाती है, उस अचिन्त्यशक्तिवाली वेदवाणी--सरस्वतीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

'औत्पत्तिकीति' 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० ३) इति सूत्रे हि प्रथमेन वर्णकेन ब्रह्मणो वेदोपादानत्वं, द्वितीयेन तु वर्णकेन ब्रह्मणि तस्य प्रामाण्यं दर्शितं, तदुभयमप्यनेन, प्रदर्श्यते ।

विश्वः=सर्वोऽपि प्रपञ्चः, विवर्तः=अतत्त्वतोऽन्यथाभावः, कारणसत्तया सत्तावान्, कारणप्रकाशेन च प्रकाशवान्, यस्य सः, सर्वसत्तास्फूर्तिप्रदः परमात्मा विश्वविवर्तः, स एवं हेतुरुपादानं यस्याः, सर्वप्रकाशशक्तिमत्परमेश्वरोपादानकत्वेन

'औत्पत्तिकीति ।' 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रमें प्रथम व्याख्यानसे ब्रह्ममें वेदोंकी उपादानकारणता, तथा द्वितीयव्याख्यानसे ब्रह्ममें वेदकी प्रमाणता, दिखाई है, ये दोनों उपादानता तथा प्रमाणता इस श्लोकसे भी बतलायी जाती हैं ।

विश्व अर्थात् सर्वप्रपञ्च है—विवर्त जिसका, वह सबको सत्तास्फूर्ति देनेवाला, परामात्मा यहां विश्वविवर्त पदका अर्थ है । विवर्तका एक अर्थ है—अतत्त्वतोऽन्यथाभाव अर्थात् तत्त्ववस्तु अधिष्ठानमें कुछ भी विकार न होने पर भी उसमें भ्रान्तिसे अन्यथा प्रतीति होना । द्वितीय अर्थ है—कारणकी सत्तासे ही जो सत्तावाला प्रतीत हो । तृतीय अर्थ है—कारणके प्रकाशसे ही जो प्रकाशवाला प्रतीत हो । वह विश्वविवर्त परमात्माही है हेतु यानी उपादानकारण जिस वेदवाणीका, ऐसी वेद वाणीका नाम यहां विश्वविवर्तहेतु है । सर्वके प्रकाश करनेमें शक्तिमान् परमेश्वर, वेदवाणीका उपादान-कारण

सर्वप्रकाशफलयोगिन्याः अखिलवस्तूनामिक्षुक्षीरादिमाधुर्यादीनामपि प्रकाशने नानाविधाभिर्वृत्तिभिरौत्पत्तिकी—अकृत्रिमा शक्तिः प्रतिपादकतारूपा प्रतिपत्तिरूपकार्यवशेन वृद्धव्यवहारेषु विज्ञायते तर्ककुशलैर्यस्या वेदलक्षणाया वाचस्ताम्। 'कथमेतस्या ईदृशं सामर्थ्यम्' इति चिन्तयितुमशक्या शक्तिः प्रभावो यस्यास्तामहं नमामीति, सर्वप्रकाशनशक्तिमत्परमेश्वरोपादानत्वं वेदस्य सर्वप्रकाशनसामर्थ्ये हेतुरिति प्रथमवर्णकार्थः।

शेषः परार्थः, न शेषोऽशेषः=स्वार्थः—सर्वपुरुषार्थः तादृशं सर्वशेषिभूतं वस्तु परमार्थसत् यद् ब्रह्म तत्प्रकाशेन तदाकारवृत्त्युत्पादनेन तदज्ञानावरणापनये यस्याः वेदलक्षणायाः वाचः औत्पत्तिकी शक्तिः, कार्यवशेन—ब्रह्मसाक्षात्काराख्यकार्यलिङ्गेन विज्ञायते। कीदृश्याः ? विश्वविवर्तस्य—कृत्स्नप्रपञ्चस्य हेतोः—कारणभूतायाः 'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति छान्दोग्यब्राह्मणश्रुतेः।

होनेसे, वेदवाणी भी सर्व-अर्थका प्रकाशरूप फल-वाली हो जाती है, अतएव समग्र वस्तुओंका तथा इक्षु (गन्ना) क्षीर (दूध) आदि वस्तुओंकी मधुरता आदिका भी—शक्ति, लक्षणा, आदि अनेक प्रकारकी वृत्तियोंके द्वारा-प्रकाश करनेमें जिस वेदरूपा वाणाकी प्रतिपादकतारूपा अकृत्रिमा यानी स्वाभाविक शक्ति—ज्ञानरूपकार्यद्वारा वृद्धोंके शब्द-प्रयोगादिव्यवहारोंमें तर्क-कुशलोंसे जानी जाती है। 'इस वाणीका ऐसा सामर्थ्य क्यों है!' इसप्रकार जिस वेदवाणीकी शक्ति यानी प्रभाव चिन्तन करनेके लिये अशक्य है। उसवेदवाणीको मैं नमस्कार करता हूँ। 'सर्व अर्थके प्रकाश करनेकी शक्तिवाले परमेश्वर को उपादानकारण होनेसे वेदवाणीमें सर्व-अर्थके प्रकाश करनेकी सामर्थ्य है' यह इस श्लोकके प्रथमव्याख्यान का निचोड़ अर्थ है।

शेष यानी परार्थ, (पर यानी आत्माके लिये अनात्म पदार्थ) जो शेष नहीं है, वह है अशेष यानी स्वार्थ, सर्व-जीवोंसे अभिलष्यमाण परमानन्दरूप अर्थ, ऐसा सर्वका शेषीरूप परमार्थ—सत्य वस्तु जो ब्रह्म है, उसके प्रकाशनमें अर्थात् ब्रह्माकारवृत्तिके उत्पादन द्वारा ब्रह्मविषयक अज्ञानरूप आवरणके बाध करनेमें जिस वेदरूपी वाणीकी स्वाभाविकी शक्ति, ब्रह्मसाक्षात्काररूप कार्य—लिङ्ग (चिन्ह) से जानी जाती है उसको मेरा नमस्कार है ऐसा सम्बन्ध है।

प्रश्न—वह वेदवाणी कैसी है ?

उत्तर—समग्र-अर्थ-प्रपञ्चरूप-विश्वकी कारण-रूपा है।

'एते' इस देवोंके स्मारक-सर्वनाम पदका स्मरणकर प्रजापतिने देवोंका, सर्जन (सृष्टि) किया, 'असृग्रम्'* इस मनुष्योंके स्मारक-पदका स्मरणकर मनुष्योंका, 'इन्दव'

* 'असृक्=रुधिरं तत्प्रधाने देहे रमन्ते इति असृग्राः=मनुष्याः' अर्थात् असृक्का अर्थ है रुधिर (खून) इस खून प्रचूर देहमें रमण करनेवाले (अहं मम अभिमान करनेवाले) मनुष्योंका नाम है असृग्रम्।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥इति॥

नाम रूपञ्च भूतानां कर्मणाञ्च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥
(इति च मनुस्मृतेः)

'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इतिसूत्रे श्रुति-स्मृती एवैते प्रत्यक्षानुमानशब्दाभ्यामुक्ते ।

ननु-'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति सर्ववागगोचरत्वश्रुतेः कथं तादृशे ब्रह्मणि वाचः शक्तिरिति तत्राह-अचिन्त्य शक्तिमिति । तां नमामीति च पूर्ववत् । यथा च लक्षणया वा मुख्यवृत्त्या वोभयाभावेऽपि स्वत एव षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतोपनिषन्निर्विशेषमपि ब्रह्म बोधयति, तथा विस्तरेण स्पष्टतरमुपरिष्टात्तत्प्रदर्शयिष्यते । तदेवं निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यमेव प्रमाणमिति द्वि-

इस पितरोंके स्मारक—पदका स्मरणकर पितरोंका, 'तिरःपवित्रम्' इस ग्रह-(यज्ञीयसोमरसके पात्र) स्मारक पदका स्मरणकर ग्रहोंका, 'आशवः' इस स्तोत्र-(ऋचाओंमें अध्यारूढ गीतिरूप) स्मारक पदका स्मरणकर स्तोत्रोंका, 'विश्वानि' इस शस्त्र-(स्तोत्रके अनन्तर उच्चारण करने योग्य अनुष्ठानके सूचक-मन्त्रविशेष) स्मारक पदका स्मरणकर शस्त्रोंका तथा 'अभिसौभग' इस अन्य-प्रजाके स्मारक पदका स्मरणकर अन्य-प्रजाका प्रजापतिने सर्जन किया" इस छान्दोग्य-ब्राह्मणश्रुतिसे—तथा—

"सृष्टिके आदिमें स्वयंभू-ब्रह्माद्वारा प्रकट होनेवाली, आदि और अन्तसे रहित, नित्य, वेदरूप दिव्य वाणी है, इससे समग्र प्रवृत्तियां होती हैं । वह महेश्वर भगवान् सृष्टिके आदिमें पृथ्व्यादि भूतोंके नाम और रूप तथा यज्ञादि कर्मोंकी प्रवर्तना, वेदके शब्दोंसे ही निर्माण करता भया ।" इस मनुस्मृतिसे भी वेदवाणीमें विश्वकी कारणता सिद्ध होती है ।

'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इस शारीरकसूत्रमें प्रत्यक्षशब्दसे पूर्वोक्त श्रुतिका, तथा अनुमान शब्दसे पूर्वोक्त स्मृतिका कथन किया है ।

शंका-'जिसको प्राप्त न होकर मन सहित वाणियां लौट जाती हैं' इसप्रकार सर्ववाणीका अविषय ब्रह्मको प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके विद्यमान होने पर उस अगोचर ब्रह्ममें वाणीकी शक्ति कैसे प्रसर पा सकती है ?

समाधान—'अचिन्त्यशक्तिमिति' 'तां नमामि' इसका सम्बन्ध पूर्वव्याख्यानके अनुसार समझना चाहिये । लक्षणासे, या मुख्यवृत्ति-शक्तिसे या लक्षणा एवं शक्ति दोनोंके न होने पर भी उपक्रमादिषड्विध तात्पर्यबोधक लिङ्गोंसे युक्त-उपनिषत्रूपा श्रुति, जिसप्रकार स्वतः निर्विशेष-ब्रह्मका बोधन करती है, वह प्रकार विस्तारपूर्वक, अतिस्पष्टरूपसे आगे स्वयं ग्रन्थकार प्रदर्शन

तीयवर्णकार्थः । एवं प्रत्यग्ब्रह्मैक्याख्याविषयेण समं प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः सम्बन्धो वेदान्तानां दर्शितः। वेदान्तवच्चतुर्लक्षणमीमांसाख्यशास्त्रस्य शास्त्रवत्तत्प्रकरणस्यास्येति द्रष्टव्यम् । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातिवृत्तम् । चतुःसूत्र्यर्थकथनेन मंगलम् ॥ ४ ॥

करेंगे । इसप्रकार निर्विशेष ब्रह्ममें वेदान्तवाक्यही प्रमाण है, यह द्वितीय व्याख्यानका अर्थ है । एवं प्रत्यागात्मा का ब्रह्मसे ऐक्य नामक विषयके साथ उपनिषत्रूप वेदान्तोंका प्रतिपाद्यप्रतिपादक लक्षण सम्बन्ध दिखाया गया । अर्थात् ऐक्य-विषय प्रतिपाद्य है, और वेदान्त उसका प्रतिपादक है । वेदान्तके समान चार अध्यायवाला—शारीरकमीमांसाशास्त्रका तथा शारीरक मीमांसा शास्त्रके समान, इस संक्षेपशारीरक नामक प्रकरण ग्रन्थ का भी यही प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूप सम्बन्ध विषयके साथ समझना चाहिये । इस श्लोकमें इन्द्रवज्रा उपेन्द्र वज्रा तथा उपजाति छन्दका संकर (सम्मेलन) है । शारीरक-मीमांसाके आदिम चार सूत्रोंके अर्थोंके कथन द्वारा भी ग्रन्थकारने मंगल किया है ॥ ४ ॥

अथ विघ्नेश्वरं प्रसादयति—

अब विघ्नेश्वर श्रीगणेशजीको मंगल-द्वारा ग्रन्थकार प्रसन्न करते हैं—

आरम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्तिरश्चामपि,
नो चेद्विश्वसृजोऽप्यलं विफलतामायान्त्युपायोद्यमाः ।
विश्वैश्वर्यमतो निरङ्कुशमभूद्यस्यैव विश्वप्रभोः,
सोऽयं विश्वहिते रतो विजयते विघ्नेश्वरो विश्वकृत् ॥ ५ ॥

जो श्रीगणेशजी यदि तिर्यक्योनिके कनिष्ठ जीवोंके ऊपर भी प्रसन्न—हृदयवाले कृपालु हो जांय तो उनके भी सभी कार्य-आरम्भ सफल हो जाते हैं । यदि वे किसी कारणवश प्रसन्न नहीं होते हैं तो अन्य की तो बात ही क्या किन्तु विश्वस्रष्टा-ब्रह्माजीके भी फलके उपायविषयक सभी उद्यम नितान्त निष्फल हो जाते हैं । इसलिये विश्वके एकमात्र प्रभु श्रीगणेशजी महाराजका ऐश्वर्य सभी देवोंकी अपेक्षा निरंकुश (स्वतन्त्र-प्रतिबन्धरहित) सिद्ध हुआ है । ऐसे विश्वके कल्याणमें प्रेम रखनेवाले, विश्वकर्ता, विघ्नेश्वर सबसे श्रेष्ठरूपसे विजयशाली ये श्रीगणपतिजी हमारे ऊपर अनुग्रह करें ॥ ५ ॥

आरम्भा इति । यश्चेत्प्रसन्नहृदयोऽनुग्राहकः तदा तिरश्चामपि सुग्रीवहनुमत्प्रभृतीनामारम्भा अभिमतक्रियोद्यमाः फलिनः फलाव्यभिचारिणः सातिशयफला वा भवन्ति । नित्ययोगेऽतिशायने वा तद्धितः । नोचेत्प्रसन्नहृदयस्तदा विश्वसृजो ब्रह्मणः-किमुतान्येषामलमत्यर्थमपि ये फलोपायविषया उद्यमास्ते विफलतां व्यर्थतां यान्ति । ब्रह्मणोऽप्यभिमतभङ्गो वत्सहरणादौ स्मर्यते ।

जब श्रीगणेशरूप भगवान् यदि प्रसन्नहृदय यानी अनुग्रह–(कृपा) कर्ता कृपालु हैं, तब तिर्यक्योनिके भी सुग्रीव हनुमान् आदिके आरम्भ यानी अभिमत–(यथेष्ट) फलके साधक क्रियारूप उद्यम, फलिनः यानी फल से युक्त (सफल) या विशिष्ट फलवाले होते हैं। 'फलिनः' इस पदमें नित्यसम्बन्धरूप अर्थमें, या अतिशय—(विशिष्ट) रूप अर्थमें 'इन्' ऐसा तद्धित प्रत्यय है। यदि गणेशभगवान् किसी कारणवश प्रसन्नहृदय नहीं हैं, तब तो अन्योंकी तो क्या बात ? किन्तु विश्वसृष्टा ब्रह्माजीके भी अलं यानी अतिशय करके जो फलके साधन विषयक उद्यम हैं, वे भी विफल-यानी व्यर्थ होजाते हैं। भागवत-पुराण में-वत्स हरणादिके प्रसङ्गमें 'ब्रह्माजीके भी अभिमत-मनोरथका भङ्ग हुआ था'—ऐसा स्पष्ट कहा है।

अत एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां विश्वस्मिन्नैश्वर्यं निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं, विश्वप्रभोःसर्वप्रशासितुः 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' इत्यादिश्रुतिसिद्धस्य यस्यैव निरङ्कुशमप्रतिहतमभूत्, सोऽयं विश्वकृद्-विघ्नतदभावादिकृत्स्नप्रपञ्चकृद् भगवानेव विघ्नेश्वरः श्रीगणेशरूपेणावतीर्णो विजयते–सर्वोत्कर्षेण वर्तमानोऽस्माननुगृह्णात्वित्यर्थः । तस्याभक्तविघ्नकारिणोऽपि भक्तविघ्ननिवारणायावतारे हेतु विंश्वहिते रत इति । कृपैव तस्यावतारे कारणमित्यर्थः। तस्य सर्वान्प्रत्येकरूपत्वेऽपि तद्भजनाभजनयोरेव

इसलिये अन्वय और व्यतिरेक * से विश्वमें ऐश्वर्य यानी निग्रह (दण्ड) एवं अनुग्रह (कृपा) करनेका सामर्थ्य, जिस विश्वप्रभु यानी 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध, सर्वका शासन करनेवाले श्रीगणेशरूप भगवान्का निरङ्कुश यानी अप्रतिहत (प्रतिबन्धरहित) सिद्ध हुआ है, वह विश्वकृद् यानी विघ्न-और विघ्नाभावादि समस्तप्रपञ्चका कर्ता भगवान् ही विघ्नेश्वर श्रीगणेशरूपसे अवतीर्ण होकर विजयते अर्थात् सर्वकी अपेक्षा श्रेष्ठरूपसे वर्तमान, हमारे ऊपर अनुग्रह (कृपा) करें, यह अर्थ है । अभक्तोंको विघ्न करनेवाले उस भगवान्के–भक्तोंके विघ्न निवारण करनेके लिये–अवतारमें हेतु है–विश्वहिते रतः, अर्थात् भगवान्के अवतारमें कृपा ही कारण है, यह इसका तात्पर्यार्थ है। भगवान्को सबके प्रति समानरूप होने पर भी उसके भजन और अभजनको ही विषम–[शुभाशुभ] फलके

* तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः । अर्थात् गणेशकृपा होनेसे फलसिद्धि, और कृपा न होनेसे फलकी असिद्धि ।

विषमफलस्वभावत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्ग इति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ॥५॥

समर्पण करनेका स्वभाव होनेके कारण उस भगवान्में वैषम्यकी और नैर्घृण्य (क्रूरता) की प्राप्ति नहीं हो सकती है, यह भाव है । इस श्लोकका शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ५ ॥

अतः परं सूत्रभाष्यवार्तिककारान्गुरून् क्रमेण पूजयति त्रिभिः । तत्र रत्नाकररूपकेण भगवन्तं व्यासं विष्णववतारं सूत्रकारं प्रथमगुरुं स्तौति—

इसके बाद, सूत्रकार वेदव्यास परमेष्ठिगुरु, भाष्यकार श्रीशङ्कर स्वामी परमगुरु, तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य स्वगुरु, इन तीनोंकी तीन श्लोकोंके द्वारा, क्रमसे ग्रन्थकार, नमस्कारादिरूपा—पूजा करते हैं । इनमें प्रथम गुरु, भगवान् विष्णुका अवतार, सूत्रकार, वेदव्यासजीकी रत्नाकर—सागरके रूपक (सादृश्य) द्वारा स्तुति करते हैं—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गाः, वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ।
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः, पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥६॥

जिस व्यास—समुद्रके अनेक वेदोंकी शाखारूपी वाणीका विस्तार ही बड़े बड़े तरङ्ग हैं, ब्रह्मात्मवस्तुके तत्त्वका साक्षात्कार ही व्यास—समुद्रके तीरका तट है, अर्थात् तरङ्गवेगकी अवसान भूमि है, विविध तर्कों (युक्तियों) के प्रयोगोंका अनेक प्रकार ही जिस व्याससमुद्रके रत्न हैं । वह व्यासरूपी समुद्र हमलोगोंको पवित्र करे ॥ ६ ॥

वाग्विस्तरा इति । व्यास एव पयोनिधिः महत्त्वपवित्रत्वगम्भीरत्वस्वच्छत्वादिसाम्यात् तस्य च पयःस्थानीया वेदा एव द्रष्टव्याः, वाचां तरंगोक्त्या व्यासशब्देन वेदव्यसनगुणोपन्यासाच्च । 'दृष्टमात्राः पुनन्त्येते राजा भिक्षुर्महोदधिः' इति स्मृतेः । स नः पुनातु पापमलरहितान्करोत्वित्युक्तम् । यस्य वेदपयसः श्रीव्यासपयोधेर्वाचो वेदलक्षणाया ये विस्तारास्तच्छाखाभेदास्त एव बृहन्तस्तरंगाः । विस्तरबृहच्छब्दाभ्यां संक्षिप्ता वाक् सूक्ष्मतरंगा इति द्योतितम् ।

व्यास ही महत्त्व, पवित्रत्व, गम्भीरत्व, स्वच्छत्व, आदिका सादृश्य होनेके कारण-पयोनिधि (समुद्र) हैं, अर्थात् जैसे समुद्र महान्, पवित्र, गम्भीर, एवं स्वच्छ, है तद्वत् व्यासजी भी हैं । वाणीको तरङ्ग कहनेसे, तथा व्यासशब्दसे वेदोंके विभाग-रूपी गुणका उल्लेख होनेके कारण, उस व्यास समुद्रके जल स्थानापन्न वेद ही समझने चाहिये । 'राजा, संन्यासी तथा समुद्र-दर्शन मात्रसे पवित्र करते हैं' इस स्मृति वचनसे भी 'वह व्यास-समुद्र हमलोगोंको पुनातु अर्थात् पापरूपी मलसे रहित करें', यह कहा गया । जिस वेदरूपी जल वाले-श्रीव्यास समुद्रके वेदरूपी वाणीका जो विस्तार है, अर्थात् वेदोंकी तत्तच्छाखाओंके भेद हैं, वे ही बड़े बड़े तरङ्ग हैं । विस्तार और बृहत् शब्दसे 'संक्षेपवाली वाणी सूक्ष्म तरङ्ग हैं' यह सूचित किया गया है ।

वेलायाः = तीरस्य तटः = प्रान्तदेशस्तस्यैव तरङ्गवेगावसानभूमित्वात्, वस्तुनि = ब्रह्मात्मैक्ये तत्त्वबोधः, शिष्याणामिति शेषः। सूत्रकारस्य वाक्प्रवृत्तेः शिष्यज्ञानार्थत्वेन तत्सिद्धावेवोपरतिसिद्धेर्युक्तं तस्य तटत्वम्। पदार्थसिद्धौ पदार्थद्वयशोधने वाक्यार्थनिर्णये तदुपयुक्तप्रमेयस्थितिषु च ये तर्काणां प्रसरणप्रकारास्त एव उपादेयत्वस्वप्रकाशत्वादिसाम्यात्, रत्नानि। एतेन रत्नानां पद्मरागेन्द्रनीलादिविविधवैलक्षण्यवत्तर्काणामपि विविधवैलक्षण्यं सूचितम्। यच्छब्दस्य तच्छब्दसापेक्षत्वादसाविति स इत्यर्थः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजातिः ॥६॥

वेला यानी तीरका तट यानी अन्तिम देश, तट ही तरङ्गके वेगोंकी अवसान भूमि है, अतएव ब्रह्म और आत्माकी एकता रूपी-वस्तु विषयक तत्त्वसाक्षात्कारही व्याससमुद्रका तट है। तत्त्वसाक्षात्कार शिष्योंको होता है, इसलिये 'शिष्याणां' इतना पद श्लोकस्थ-'तत्त्वबोध' पदके साथ शेषरूपसे जोड़ना चाहिये। सूत्रकार श्रीव्यासजीकी वाणीरूपी प्रवृत्ति, शिष्योंके तत्त्वज्ञानके लिये ही है, अतएव शिष्योंको तत्त्वज्ञानकी सिद्धि होनेपर व्यास-गुरुकी वाणीरूपी प्रवृत्ति भी शान्त हो जाती है, इसलिये श्लोकमें तत्त्वबोधका तटरूपसे अर्थात् उपदेशकी अवसान-भूमि रूपसे वर्णन किया है। पदार्थकी सिद्धिमें, पदार्थद्वयके शोधनमें, वाक्यार्थ निर्णयके उपयोगी अन्य प्रमेयकी सिद्धिमें तर्कोंका जो प्रयोग-प्रकार हैं, वे ही उपादेयत्व स्वप्रकाशत्व आदिका सादृश्य होनेसे रत्नरूप हैं। इस कथनसे-रत्नोंमें जैसे पद्मराग, नीलमणि, आदि-आदि विविध विलक्षणता हैं, तद्वत् तर्कोंकी भी विविधविलक्षणता हैं-यह सूचन किया। 'यत्' शब्द 'तत्' शब्दकी अपेक्षा करता है, इसलिये श्लोकस्थ 'असौ' पदका अर्थ तच्छब्दकी प्रथम विभक्तिका एकवचन 'स' समझना चाहिये। इस श्लोकमें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा तथा उपजाति, छन्दका सम्मेलन है ॥ ६ ॥

सत्संप्रदायेन भाष्यकर्तारं शंकरावतारं श्रीशंकराचार्यं प्रणमति—

सत्संप्रदाय (गुरु-शिष्यकी परम्परा) के अनुसार भाष्यकार, महेश्वर श्रीशंकरके परावतार, आचार्य श्री शंकर स्वामीको ग्रन्थकार प्रणाम करते हैं—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या, सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलंकपंका, नमामि तं शंकरमर्चिताङ्घ्रिम् ॥७॥

व्याख्यान करनेवाले जिस शंकर स्वामीको प्राप्त होकर नित्य-अपौरुषेयी वेद-वाणी दुष्ट-तर्करूपी कलंकके पंक (कीचड़) से निर्मुक्त, तथा वास्तविक अर्थसे युक्त हो गयी, अतएव सर्व से पूजित हैं चरण-कमल जिसके, ऐसे श्रीशंकर स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ।

वक्तारमिति। यमेव व्याख्यातारमासाद्य नित्या सरस्वती वेदलक्षणां, निरस्ता = निर्मूलिता, दुष्टतर्का एव मालिन्यहेतुत्वात् कलंकाश्च तन्मग्नानां पुनरुत्थानासंभवात्पंकाश्च यस्याः सा। सर्वदुस्तर्कदोषनिरासेन स्वतात्पर्यविषयीभूतार्थसमन्वितत्वेन प्रकटाऽऽसीत्, तं शंकरं = सर्वकल्याणकरं भगवदवतारत्वेन सर्वपूजितपादपद्मं नमामीति सम्बन्धः।

वक्तारमिति—मलिनताका कारण होनेसे दुष्टतर्कही यहां कलंक हैं, तथा उन दुष्टतर्कोंमें निमग्न (आसक्त) होनेवालोंका पुनः उत्थान (उन्नति) का असम्भव होनेके कारण, दुष्ट तर्क ही पंक (कीचड़) हैं, ऐसे दुष्टतर्क निरस्त अर्थात् निर्मूलित (विनष्ट) हुए हैं जिसके, ऐसी वेदरूप नित्यवाणी, जिस व्याख्यान कर्ताको प्राप्त कर, सर्वदुष्टतर्करूपी दोषके निरास द्वारा अपने तात्पर्यके विषय (अद्वैत) रूप अर्थसे युक्त होकर प्रकट हुई है। ऐसे भगवान् विश्वेश्वरके अवतार, सर्वसे पूजित चरणकमल, सर्वके कल्याणकर्ता, श्रीशंकर स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ, यह अन्वय है।

जैमिन्यादिभिर्हि कर्मकाण्डमेव स्वार्थसमन्वितं कृतम्, उपनिषदस्तु स्वार्थात्प्रच्याविताः। कैश्चिच्च भेदविलयवादिभिरुपनिषदः स्वार्थसमन्विताः कृता कर्मकाण्डं तु स्वार्थात्प्रच्यावितम्। भगवता व्यासेन च विविदिषावाक्यं विचारयता यद्यपि कर्मकाण्ड-ब्रह्मकाण्डयोस्तुल्यमेव प्रामाण्यमङ्गीकृतम्। तथापि तावन्मात्रेण न स्वार्थसमन्वितता, कैश्चित्तत्सूत्रं व्याचक्षाणैर्भर्तृप्रपञ्चादिभिर्भेदादेरवेदार्थस्य वेदार्थत्ववर्णनात्। श्रीमद्भगवत्पूज्यपादैस्तु व्याहारिकत्वेन कर्मकाण्डप्रामाण्यप्रवृत्त्यादि व्यवस्थाप्य वेदान्तानां तात्त्विकशुद्धाद्वैतपरत्वं व्यवस्थापितमिति स्वार्थसमन्वितं कृत्स्नवेदस्य सम्पन्नमिति महिमातिशयं दर्शयितुं यमेवेत्येवकारः प्रयुक्तः। उपजाति ॥ ७ ॥

जैमिनी आदिने कर्मकाण्ड ही स्वार्थयुक्त किया, किन्तु उपनिषदोंको स्वार्थसे गिरा दिया। और कोई भेदविलय (सर्वथा-अभेद) वादियोंने उपनिषत् स्वार्थ युक्त किये, किन्तु कर्मकाण्डको स्वार्थसे गिरा दिया। 'तमेतं यज्ञेन, इत्यादि विविदिषा वाक्यके विचारने वाले भगवान् वेदव्यासने, यद्यपि कर्मकाण्ड तथा ब्रह्म—(ज्ञान) काण्डका समान ही प्रामाण्य स्वीकार किया है, तथापि उनके ब्रह्म सूत्रके व्याख्यान करने वाले भर्तृप्रपञ्च आदि पण्डितोंने—जो भेद आदि—वेदोंका यथार्थ—अर्थ नहीं है—उसको वेदोंके अर्थ रूपसे वर्णन करनेके कारण, ब्रह्मसूत्र रचना मात्रसे भी वेदवाणी की स्वार्थयुक्तता नहीं हो सकती है। श्रीमान् भगवत्पूज्यपाद (आचार्य श्रीशङ्कर स्वामी) ने कर्मकाण्डका प्रामाण्य, यागादि प्रवृत्ति, आदि की—व्यवहारकालमें अर्थात् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारपर्यन्त, व्यावहारिकसद्रूपसे-व्यवस्था करके, उपनिषदोंका पारमार्थिक-शुद्ध-अद्वैत ब्रह्मके बोधमें तात्पर्यस्थिर किया है। इस प्रकार श्रीशंकरस्वामी द्वारा कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड आदि समग्र वेद, स्वार्थयुक्त हो गया। अतएव आचार्य श्री शंकरस्वामीका अतिशय महत्त्व प्रदर्शनार्थ श्लोकस्थ 'यमेव' इस पदमें एवकार जोड़ा गया है, अर्थात् शंकर

स्वामीके व्याख्यानसे ही वेद वाणी स्वकीय यथार्थ-अर्थ से प्रकट हुई है। इस श्लोकका उपजाति छन्द है ॥७॥

इदानीं स्वगुरुं वार्तिककारं पूजयति—

अब ग्रन्थकार, अपने गुरु वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यजी की मंगल द्वारा पूजा करते हैं—

यदीयसंपर्कमवाप्य केवलं, वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः।
जगत्सु ते तारितशिष्यपङ्क्तयो, जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः॥ ८॥

जिनके चरणोंकी रजका ही सम्बन्ध प्राप्त कर हम लोग उनके शिष्य इस लोकमें निर्मल-यशवाले तथा ब्रह्मसाक्षात्काररूप मुख्य प्रयोजन प्राप्त कर कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो गये हैं, जिनके चरणोंकी रजने अनेक शिष्योंका समुदाय तार दया है, उन श्रीसुरेश्वराचार्य नामवाले-गुरु महाराजके चरणोंकी रज (धूलि) सर्वसे उत्कृष्टरूपसे सिद्ध है, अर्थात् उस-रजको मैं प्रणाम करता हूँ।

यदीयेति। देवेश्वरस्य = सुरेश्वराचार्यस्य ते पादरेणवो जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तान्प्रत्यस्मि प्रणत इत्यर्थः। येषां पादरेणवोऽपि सर्वोत्कृष्टास्तेषामुत्कर्षः केन वक्तुं शक्यते, इत्यभिप्रायः। सुरपदस्थाने देवपदप्रयोगः साक्षाद्गुरुनामाग्रहणाय। 'गुरोर्नाम न गृह्णीयात्' इति स्मृतेः। कीदृशास्ते ? तारिताः संसारसमुद्रपारं गमिताः शिष्यपंक्तयोऽस्मदादिशिष्यसमूहो यैः पांसुभिस्ते तथा। येषां पादरेणवोऽपि शिष्यांस्तारयन्ति ते स्वयं तारयन्तीति किमु वक्तव्यम्।

यदीयेति। देवेश्वर यानी सुरेश्वराचार्यजीकी वह चरण-रज जयन्ति अर्थात् सबसे श्रेष्ठरूपसे वर्तमान हैं, उनके प्रति मैं नम्रीभूत हूँ, यह अर्थ हैं। जिनके चरण की रज भी जब सबसे श्रेष्ठ है, तब उन सुरेश्वराचार्य गुरुजी की श्रेष्ठता कौन कह सकता है, यह अभिप्राय है। साक्षात् (अपरोक्षरूपसे) गुरुका नाम ग्रहण न करनेके लिये 'सुर' पदके स्थानमें देव पदका प्रयोग किया है, क्योंकि-स्मृतिशास्त्र निषेध करता है कि-गुरुका नाम न ग्रहण करो।

प्रश्न—वह गुरुके चरणकी रज कैसी है ?

उत्तर—जिस गुरुकी चरणरजने 'शिष्य-पंक्तयोः' हम शिष्य समुदायको संसार समुद्रसे तारकर पार कर दिया है। उसरजकी महिमा अपार है।

जिन-गुरुओंके चरणोंकी रज भी जब शिष्योंको तार देती है, तब वे स्वयं गुरुमहाराज तार देते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है।

यदीयानां = यत्सम्बन्धिनां पवनादीनामपि संपर्कं = सम्बन्धं केवलमवाप्य साधनान्तरशून्या अपि वयं सर्वेऽपि तच्छिष्याः कृतार्थाः = कृतप्रयोजना ब्रह्मसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्ताः, जगत्सु = लोकेषु च सद्ग्रन्थकरणाध्यापनादिना निरवद्यकीर्तयः = निर्मल-यशसो वयमिति महाफलावान्तरफलकीर्तनम् । अतः सर्वथा ते नमस्या एवेत्यभिप्रायः । वंशस्थम् ॥ ८ ॥

जिनके सम्बन्धवाले—पवन आदिकों का भी केवल सम्बन्ध प्राप्तकर अन्य साधनोंसे शून्य भी हम सब-उनके शिष्य, ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा मुख्य प्रयोजन सिद्ध कर जीवन्मुक्त हो गये हैं । तथा इस लोकमें, अच्छा ग्रन्थ बनाना, अध्यापन करना (पढ़ाना) आदि शुभकर्म द्वारा निर्मलयशवाले भी हम लोग हो गये हैं । यह मुख्य फल जीवन्मुक्ति तथा निर्मलकीर्त्यादिक अवान्तर (गौण) फल का कथन किया । इसलिये वे हमारे गुरु महाराज सर्व प्रकारसे नमस्कार करने योग्य हैं, यह इसका अभि-प्राय है । इस श्लोकका 'वंशस्थ' छन्द है ॥ ८ ॥

गुरुस्तुतिशेषत्वेन ये प्रस्तारिते आत्मनः कृतार्थ-त्वनिरवद्यकीर्तित्वे ताभ्यां प्राप्तमात्मन औद्धत्यम-पाकरोति—

गुरु-स्तुतिके शेष (अङ्ग) रूपसे निर्देश किया हुआ जो अपना कृतार्थ-(कृतकृत्य) पना तथा निर्मल-यश, इन दोनोंके निर्देश द्वारा जो अपना उद्धतपना प्राप्त हुआ है, उसको दूर करते हैं—

गुरुचरणसरोजसन्निधानादपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ॥९॥

जैसे महाविस्तारवाले जल-पूर्ण-समुद्रमें रहे हुए मत्स्य, स्वशक्तिके अनुसार अल्पही जल ग्रहण करते हैं, तद्वत् हमलोग, गुरु महाराजके चरणकमलके समीपमें रहकर भी उस गुरु महाराजके असंख्य-महान् गुणोंमेंसे अत्यल्प-गुणको ही प्राप्त हुए हैं ।

गुरुचरणेति । अनेककल्याणगुणार्णवस्य गुरो-श्चरणसरोजयोर्महासौभाग्यशालिनोः सन्निधानाद-नेकगुणार्पणयोग्यादपि वयं तच्छिष्याः सर्वेऽप्यस्य गुरोर्गुणैकलेशमेव भजामो न तु बहुतरं, स्वायो-ग्यत्वात् 'स्तुतावेकवचनमपि प्रयोज्यम्' इत्यस्येति न विरुध्यते । स्वायोग्यत्वेन बहुप्राप्तव्यसन्निधानेऽ-

गुरुचरणेति । अनेक कल्याणप्रद गुणोंके समुद्र, श्रीगुरुके महासौभाग्यशाली चरण कमल की—अनेक गुणोंके समर्पण करनेकी योग्यता रखनेवाली—सन्निधि (समीपता) से भी हमलोग सब उनके शिष्य, असंख्य महा-गुणोंके मध्यमेंसे अत्यल्पगुणको ही प्राप्त हुए हैं, हमलोगोंको अयोग्य होनेके कारण. गुरुजीके बहुतर गुण प्राप्त नहीं हुए हैं । 'स्तुतिमें एकवचन भी प्रयुक्त होता है' इसलिये 'अस्य' ऐसा एकवचन विरुद्ध नहीं है । अपनेको अयोग्य होनेसे—बहु प्राप्त करानेवालेके समीपमें रहनेपर भी—अल्पका ही ग्रहण होता है, इस

प्यल्पग्रहणे दृष्टान्तमाह—अपि महतीति। चतुःषष्टिलक्षयोजनविस्तृततयाऽतिविपुले शुद्धोदकाख्ये सप्तमे समुद्रे निमग्नाः कात्स्र्न्येन तत्सम्बद्धा अपि मीनाः सलिलं मितमल्पमेवोपाददते गृह्णन्ति स्वायोग्यत्वेनेति लोकप्रसिद्धमित्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—अपि महतीति। चौसठ लक्षयोजन विस्तृत (लम्बा-चौड़ा) होनेसे अतिविशाल 'शुद्धोदक' नामवाले सातवें समुद्रमें समग्ररूपसे सम्बन्ध रखनेवाले मत्स्य, भी अपनेको विशेष जल ग्रहण करनेके लिये अयोग्य होनेके कारण स्वशक्तिके अनुसार अल्प ही जल ग्रहण करते हैं, यह लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त है, यहाँ अर्थान्तर नामक अलंकार(१)का उपन्यास इस दृष्टान्तसे किया है ॥९॥

एवमल्पज्ञत्वेन ग्रन्थकरणाशक्तौ प्राप्तायामाह—

इसप्रकार अल्पज्ञ होनेसे इस ग्रन्थके करनेकी अशक्ति प्राप्त होने पर कहते हैं—

शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासान्नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः।
शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं, संक्षेपतः प्रकरणं करवाणि हृष्यन् ॥१०॥

गुरुके चरणोंके समीप निवाससे तथा गुरुके नारायण स्मरण रूप आशीर्वादसे निर्विघ्न होकर मैं ग्रन्थ करनेके लिये समर्थ हूँ, इसलिये प्रधानरूपसे शारीरक-मीमांसा शास्त्रके अर्थ विषयक यथार्थ ज्ञानको देनेवाले, इस प्रकरण ग्रन्थको संक्षेपसे मैं हर्षयुक्त होकर करता हूँ ॥१०॥

शक्त इत्यादिना। गुरोश्चन्दनवृक्षस्येवान्यत्र स्वगुणसञ्चारणसमर्थस्य निकटे निवासाच्छक्तोऽहमिति कारणपौष्कल्यं दर्शयित्वा महत्यारम्भे विघ्नबाहुल्यसम्भवात्तदभावमाह-गुरोर्नारायणस्मरणतः तद्रूपादाशीर्वादाच्च निरन्तरायो-निर्विघ्नोऽहम्, अतो गुरुचरणसमीपवासात्पादसंवाहनादिसमये तत्तत्प्रश्नैरप्रतिपत्तिनिराकरणेन शास्त्रार्थज्ञानरूपसामग्रीसम्भवाद् गुरुनारायणस्मरणतश्च निखिलविघ्न-

शक्त इत्यादिना। चन्दन-वृक्षके समान अपने गुणोंको अन्यमें समर्पण करनेके लिये समर्थ गुरुके समीप में निवास करनेसे मैं ग्रन्थ करनेके लिये समर्थ हूँ, इस प्रकारग्रन्थ प्रणयन रूपी कार्यके कारणकी पुष्कलता दिखा करके ग्रन्थ-रचनारूपी महाकार्यके आरम्भमें बहुत विघ्नों के सम्भव होनेसे, विघ्नोंका अभाव कहते हैं—गुरुका नारायणस्मरण रूपी आशीर्वादसे निरन्तराय यानी निर्विघ्न हुआ मैं ग्रन्थ करनके लिये समर्थ हूँ। इसलिये गुरु-चरणके समीप निवास होनेके कारण, पादसेवा आदि के समयमें उन उन प्रश्नोंके द्वारा अज्ञान एवं संशयकी निवृत्ति पूर्वक शास्त्रार्थ ज्ञानरूपी-सामग्री (कारण-समुदाय) के सम्भव होनेसे तथा गुरुके नारायण स्मरण रूप

(१) विद्या आदि पूर्ण-विशिष्टगुणशाली होने पर भी ग्रन्थकारने गर्वनिवृत्त्यर्थ अपनेको इस श्लोकमें अल्पगुन वाला प्रकट किया है, यहीं यहां अर्थान्तर (गर्वनिवृत्तिरूप अन्य अर्थका सूचक) अलंकार है।

निवृत्तिसम्भवाद् ग्रन्थकरणानुकूलसकलोपकरणसम्पत्त्या हृष्यन्-हर्षं प्राप्नुवन् प्रकरणं-शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रप्रयोजनापेक्षया प्रयोजनातिशययुक्तं ग्रन्थ विशेषं करवाणि-कुर्याम् ।

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम, ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥
इति विष्णुधर्मोत्तरस्मरणात् ।

शरीरमेव कुत्सितत्वाच्छरीरकं तत्र भवः शारीरको जीवः तस्य तत्त्वमधिकृत्य कृतो ग्रन्थश्चतुर्लक्षणशारीरकमीमांसालक्षणोऽपि शारीरकः । शारीरं जीवं ब्रह्मतया कायतीति (१) वा । तस्यार्थः-प्रयोजनं विषयश्च यस्य तत्तथा। अवगतिः-अज्ञाननिवर्तिका निर्गुणब्रह्मविद्या सैव प्रधानं-विचार्य-

आशीर्वाद द्वारा सकल विघ्नोंकी निवृत्ति होनेसे हर्षयुक्त होकर शास्त्रके एकदेशमें सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रके प्रयोजनकी अपेक्षासे विशिष्ट प्रयोजनसे युक्त इस प्रकरण-ग्रन्थ विशेषको मैं करता हूँ ।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार कहा है—

'जो शास्त्रके एकदेशमें सम्बन्ध रखनेवाला, तथा शास्त्रके विशिष्ट प्रयोजनका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ-विशेष है, उसको विद्वान् लोग 'प्रकरण, कहते हैं ।

कुत्सित (गंदा) होनेसे शरीरही शरीरक है (यहां कुत्सितअर्थमें कप्रत्यय हुआ है) इस शरीरक में साक्षीरूपसे रहनेवाले जीवका नाम शारीरक है, जीवके विशुद्ध स्वरूपके बोधका उद्देश्य करके किया (रचा) गया, चार अध्यायवाला 'शारीरक मीमांसा' रूप-ग्रन्थ भी शारीरक है (२) । अथवा शारीर(शरीरमें होनेवाला) जीवको जो ब्रह्मरूपसे कायति अर्थात् बोधन करता है, उस ग्रन्थका नाम शारीरक है । उस शारीरकका ही अर्थ यानी प्रयोजन तथा विषय है, जिसका वह सक्षपेशारीरक 'शारीरकार्थ विषय' है । 'अवगति' यहां अज्ञान को हटानेवाली निर्गुणब्रह्मविद्या है । वही 'प्रधान' अर्थात विचारका विषय होनेके कारण तात्पर्यका भी विषय है—जिसका, वह संक्षेपशारीरक अवगतिप्रधान है । इस प्रकार जो 'शारीरकार्थ विषय' है,वही 'अवगतिप्रधान' है अतएव शारीरकार्थ विषयका तथा अवगतिप्रधानका यहां अभेदसम्बन्ध—द्योतक-कर्मधारय समास है। 'इस कथनसे शारीरकशास्त्रका एकदेश जो निर्गुणब्रह्मविद्या है, उसके

(१) कै शब्दे इति धातोः कायति = शब्दयति बोधयतीत्यर्थः ।

(२) 'तादर्थ्ये ताच्छब्द्यम्' अर्थात् जिसके लिये जो होता है, वह भी उसी नामसे प्रसिद्ध होता है, जैसे 'आयु र्वै घृतम्' 'आयुके लिये घृत है' अतएव घृतको आयु कहा, तद्वत् शारीरकके स्वरूप बोधके लिये रचा हुआ ग्रन्थ भी 'शारीरक' कहलाया ।

त्वेन तात्पर्यविषयीभूत यस्य तच्च तच्चेति कर्मधारयः । अनेन शास्त्रैकदेशसम्बन्धो दर्शितः । संक्षेपत इति सगुणब्रह्मविद्याविचारबाहुल्यपरित्यागरूपेण संक्षेपेणेति शास्त्रात्प्रयोजनान्तरं दर्शितं प्रागेव विवृतमेतत्। अत्र गुरुप्रशंसापूर्वकं ग्रन्थारम्भप्रतिज्ञा ॥ १० ॥

साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादकत्वरूप सम्बन्ध इस प्रकरण ग्रन्थका दिखाया गया है । सगुणब्रह्मविद्याका विचाररूप अधिकताका परित्यागरूप संक्षेप करनेसे, मूल-शारीरक शास्त्रके प्रयोजन (१) से इसका अन्य प्रयोजन दिखाया । इस विषयको प्रथमही स्पष्टरूपसे कह चुके हैं । यहां गुरु की प्रशंसापूर्वक इस ग्रन्थके आरम्भकी 'करवाणि' इस पदसे प्रतिज्ञा की गई है ॥ १० ॥

ननु-स्वस्येवान्यस्यापि मूलशास्त्रादेव तदवगतिसम्भवात्किमनेनेत्याशङ्क्य स्वस्य विद्याशुद्धिरसाधारणं प्रयोजनमित्याह-पदवाक्येति—

शंका—आपकी तरह अन्यको भी मूलशारीरक शास्त्रसे उस तत्त्वका बोध हो जायगा, तब इस संक्षेपशारीरकका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—'हमारी विद्याकी शुद्धि ही इसका असाधारण प्रयोजन है' यह समाधान पदवाक्येत्यादि श्लोकसे कहते हैं—

अथवा गुरुप्रशंसया गुरुव्यतिरिक्तेषु विद्वत्सु अनादरात्तैरपरिगृहीतोऽयं ग्रन्थो न प्रचरेदित्यभिप्रेत्य तानपि सम्मानयति—

अथवा केवल गुरुकी प्रशंसा करने पर गुरुसे अन्य विद्वानोंका आदर नहीं करनेसे, अन्य विद्वानोंसे इस ग्रन्थकी स्वीकृति न होनेके कारण, इसका सब जगह प्रचार न होगा, ऐसा हृदयमें विचार करके अन्य विद्वानोंको भी ग्रन्थकार मान-प्रदान करते हैं—

पदवाक्यमाननिपुणा निपुणं विमृशन्त्विदं प्रकरणं मनसा ।
गुणदोषनिर्णयनिमित्ततया प्रथिता हि पण्डितजना जगति ॥११॥

पदनिपुण (कुशल) वैयाकरण, वाक्यनिपुण मीमाँसक, तथा प्रमाणनिपुण नैयायिक आदि विद्वान् इस प्रकरण ग्रन्थका अच्छी प्रकार-सावधान मनसे विचार करें । क्योंकि इस संसारमें पण्डित जन ही गुण दोषके निर्णयमें निमित्तरूपसे प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

पदवाक्येति । पदनिपुणा वैयाकरणाः, वाक्यनिपुणा मीमांसकाः, माननिपुणास्तार्किकास्तेषां तद्विचारकुशलत्वात् । इदं प्रकरणं पदतो वाक्यतो मान-

पदवाक्येति । पदकुशल वैयाकरण, वाक्यकुशल, मीमांसक, प्रमाणकुशल तार्किक हैं, क्योंकि ये पद, वाक्य तथा मानके विचारमें क्रमशः कुशल हैं । अतएव ये इस प्रकरण ग्रन्थका पदसे वाक्यसे तथा प्रमाणसे

(१) यहां यह अवान्तरप्रयोजन समझना चाहिये, मुख्य नहीं, मुख्य प्रयोजन तो दोनोंका एकही है ।

तच्च निपुणमवधानेन मनसा-बुद्ध्या विमृशन्तु-विचारयन्तु, निपुणं मनसेति विशेषणाभ्यामनवधानं परप्रत्ययं च वारयति। प्रार्थितानां तेषां गुणदोषनिर्णयाय प्रवृत्तौ कारुण्यमेव हेतुरित्याह-गुणदोषेति। तथा चोक्तं कविना—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥
(शाकुं० अं० १) इति।

ग्रन्थनिर्माणमात्रं मदधीनं विशुद्धिस्तु निर्मत्सरविद्वदधीनेत्यर्थः ॥ ११ ॥

नन्वस्माभिर्निपुणं विमृशद्भिः दोषकीर्तने क्रियमाणे तव दुःखमेवस्यादित्याशङ्क्याह—

सावधान बुद्धिपूर्वक विचार करें 'निपुण' एवं 'मनसा' इन दो विशेषणोंसे अनवधान (चित्तका चांचल्य) तथा परप्रत्यय (अन्यकी बुद्धिके पीछे अपनी बुद्धि लगाना) का निवारण करते हैं। गुण-दोषके निर्णयरूप परीक्षाके लिये प्रार्थित-विद्वानोंकी प्रवृत्तिमें कृपाही हेतु है-यह कहते हैं-गुणदोष-इत्यादिसे। कवि कालिदासने भी इसप्रकार कहा है—

जबतक स्वकृतिसे विद्वानोंको सन्तोष न हो, तबतक प्रयोग (रचना) का विज्ञान मैं अच्छा नहीं मानता, क्योंकि अत्यन्त शिक्षित विद्वानोंका चित्त भी अपने विषयमें अर्थात् स्वरचित कृतिमें अविश्वस्त (संशयग्रस्त) रहता है।

इस ग्रन्थका निर्माणमात्र मेरे आधीन है, इसकी विशुद्धि तो मत्सरादिदोषसे रहित विद्वानोंके आधीन है, यह श्लोकका निचोड़ अर्थ है ॥ ११ ॥

शंका-इस ग्रन्थका अच्छीप्रकार विचार करनेवाले हम-विद्वानोंसे इस ग्रन्थके दोषोंका कथन करनेपर आपको दुःख होगा ?

इस शंकाका समाधान ग्रन्थकार कहते हैं—

विद्वांसो यदि मम दोषमुद्गिरेयुः यद्वा ते गुणगणमेव कीर्तयेयुः।
तुल्यं तद्बहु मनुते मनोमदीयं, कष्टं तद्व्रतमनुते यदाह मन्दः॥१२॥

यदि विद्वान् लोग इस मेरे ग्रन्थके दोष प्रकट करेंगे अथवा इसके गुणसमुदायका कीर्तन करेंगे, तब मेरा मन इन गुण एवं दोष दोनोंको समानभावसे आदरपूर्वक अङ्गीकार करेगा। परन्तु अविद्वान् यदि इसके गुण या दोषका उद्भावन करेगा तो मेरा मन कष्ट मानेगा ॥ १२ ॥

विद्वांस इति। निर्मत्सरा विद्वांसो गुणदोषपरीक्षका यदि मम ग्रन्थे दोषं हानाय कथयेयुर्गुणगणं चोपादानाय कथयेयुः, तद्दोषकथनं गुणकथनं च तुल्यं सममेव बहुमनुते आदरेणाङ्गीकरोति, ममममनो

विद्वांस इति। मत्सर रहित, गुणदोषपरीक्षक, विद्वान् यदि इस मेरे ग्रन्थके दोषोंको निषेधार्थ कहेंगे, अथवा ग्रहणके लिये गुण-समूह कहेंगे, तब उस दोषकथनको तथा गुणकथनको समान-भावसे आदरपूर्वक वाणीमात्रसे नहीं किन्तु हृदयसे मेरा मन भी अङ्गीकार

न तु वाङ्मात्रम्। दोषकीर्तने हि सति तन्निवारणा-न्निर्दोषो ग्रन्थः शुद्धः स्यादित्यभिप्रायेण दोषकीर्तनं ग्रन्थशुद्धिरूपगुणपर्यवसानाद् गुण एवेति महानतु-ग्रह इत्यभिप्रायः।

यस्तु मन्दो मात्सर्यग्रस्तो दोषगुणविवेचनासम-र्थश्च सोऽविचार्यैव यद्यन्ध इव चित्रस्य गुणं दोषं चाह तदपि तुल्यमेवकष्टं दुःखं मनुते। बतेति खेदे। बह्विति पाठे बहु कष्टं मनुत इत्यन्वयः। मनो ममेति शेषः। तदुभयस्यापि ग्रन्थविशुद्ध्यप्रयोजकत्वादि-त्यर्थः॥ १२॥

नन्वस्माभि र्निपुणं विचार्य निर्दोषत्वेन निश्चितेऽपि ग्रन्थे कश्चिदतिमत्सरी दोषमुद्भावयतीति चेत्त-दाऽस्माकं महदयशो भवेत्तत्र च ग्रन्थशुद्धिर्न भवे-दित्याशंकयाह—

करेगा, दोषका कथन होने पर उसके निवारणसे ग्रन्थ निर्दोष-शुद्ध होगा, इस अभिप्रायसे यह दोषका कथन ग्रन्थ शुद्धिरूप गुणका प्रयोजक होनेके कारण गुण ही हो जायगा, इसप्रकार इन विद्वानोंका मेरे प्रति महान् अनुग्रह होगा, यह अभिप्राय है।

और जो गुण दोषके विवेचनके लिये असमर्थ, एवं मात्सर्य दोषसे युक्त अविद्वान् अर्धदग्ध पण्डित है, वह यदि—जैसे अन्धा चित्रके गुण एवं दोषका वर्णन करे, तद्वत्, इस ग्रन्थके रहस्यका विचार न करके इसके गुण एवं दोषका कथन करेगा—तो इन दोनोंके वर्णनमें समान रूपसे मेरा मन अत्यन्त दुःख मानता है। 'बत' यह अव्यय खेदका सूचक है। 'बत' के स्थानमें 'बहु' ऐसा भी पाठ कहीं-कहीं है, इसलिये उस पाठमें 'बहु कष्टं मनुते' ऐसा अन्वय समझना। चतुर्थपादमें 'मनो-मम' इतना शेष जोड़ना चाहिये। अर्ध दग्धपण्डितका गुण वर्णन एवं दोषवर्णन, दोनोंही ग्रन्थ विशुद्धिके साधक नहीं हैं, यह निचोड़ अर्थ है॥ १२॥

शंका—हम सब विद्वान् अच्छी प्रकार विचार करके इस ग्रन्थको निर्दोष निश्चित कर भी दें परन्तु कोई अति-मत्सरदोषवाला पण्डित इस ग्रन्थमें दोष प्रकट करेगा तो हम लोगोंका महान् अपयश होगा, और आपके ग्रन्थ की शुद्धि भी न होगी?

इस शंकाका समाधान इस निम्नलिखित श्लोकसे कहते हैं—

महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः।
स नूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते, विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम्॥ १३॥

महामहिमावाले विद्वानोंके—स्वभावसे अतिनिर्मल यशको जो कोई दुष्ट पण्डित दोष कथन द्वारा-आच्छादन करनेके लिए इच्छा करता है, तो वह पुरुष मानो ऐसा है कि—जैसे कोई सूर्य-नारायणके अतिविस्तृत मण्डलको अत्यल्प अपने हस्ततलसे आच्छादन करनेके लिए चेष्टा करता है॥ १३॥

महामहिम्नामिति—प्रसिद्धयशसां दोषगुणपरीक्षणक्षमाणां विदुषां भवद्विधानां निर्मत्सरत्वेन मानकुशलत्वेन च स्वभावतः संशुद्धतरमतिनिर्मलं परग्रन्थनिर्दोषत्वापादनरूपं यश आरोपितदोषोद्भावनेन यस्तिरश्चिकीर्षति—तिरोभावयितुमिच्छति, स जगन्मण्डलव्यापिप्रकाशस्य विवस्वतो मण्डलं लक्षयोजनविस्तृतं हस्ततलेनात्यल्पेन तदसम्बद्धेनाच्छादयितुं प्रवर्तते। नूनमिति सर्वथैवासम्भावितमिदं यथा तद्वदसम्भावनीयं कर्तुमिच्छन् सर्वलोकोपहास्य एव भवति। अतो भवतां विशुद्धज्ञानानां मम च भवदादृतग्रन्थस्य न काऽपि क्षतिरित्यर्थः। विद्वन्माहात्म्यखलतुच्छते दर्शिते ॥ १३ ॥

ननु—शारीरकार्थविषयमवगति प्रधानं प्रकरणं करवाणीत्युक्तं तन्नोपपद्यते। शारीरक मीमांसाया एव प्रयोजकाभावेनासङ्गतत्वात्। शिष्यजिज्ञासितसंदिग्धार्थ निर्णयाय भगवता निरस्तसमस्तैषणेन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्याद्यारब्धव्यम्। शिष्यस्य च ब्रह्मण्यत्यन्तानुपलब्धे जिज्ञासा वा सन्देहो वा कथं भवेत्। धर्मिज्ञानसाध्यत्वात्तयोः तच्चनिर्विशेषे

महामहिम्नामिति। प्रसिद्ध यशवाले, गुण और दोषकी परीक्षामें समर्थ, आप जैसे विद्वानोंका—निर्मत्सर एवं प्रमाण कुशल होनेके कारण अन्यके ग्रन्थमें भी निर्दोषपनेके समर्पण द्वारा उत्पन्न, स्वाभाविक-संशुद्धतर यानी अतिनिर्मल जो यश है, उस यशको—कल्पित दोषके उद्भावन द्वारा—आच्छादन करनेकी जो इच्छा करता है, वह मानो विश्वमण्डल व्यापी प्रकाशवाले सूर्यके लक्षयोजन विशाल मण्डलको उससे असम्बद्ध अत्यल्प हस्ततलसे ढकनेके लिए प्रयत्न करता है। 'नून' इस पदके कथनसे-जैसे सूर्यमण्डलका हस्ततलसे आच्छादन सर्वथा असम्भव है, तद्वत विद्वानोंके शुद्धदिग्व्यापी यशका आच्छादन भी सर्वथा असम्भव है। असम्भव-कार्य को करनेके लिये जो इच्छा करता है, वह सर्वलोकोंसे हँसने योग्य बनता है। इसलिये विशुद्ध ज्ञानवाले आप विद्वानोंकी तथा आप लोगोंसे आदर किये गये इस मेरे ग्रन्थकी कुछ भी हानि नहीं है, यह अर्थ है। इस श्लोकसे विद्वानोंकी महिमा और खल मनुष्योंकी तुच्छता दिखायी है ॥ १३ ॥

शंका—'शारीरकार्थविषयक अवगतिप्रधान—प्रकरणको मैं बनाता हूँ' यह जो कहा है, यह उपपन्न (युक्तियुक्त) नहीं हो सकता, क्योंकि—शिष्यजिज्ञासा आदि प्रयोजक के न होनेसे शारीरकमीमांसा ही असंगत है। शिष्यसे जिज्ञासित (जाननेकी इच्छाका विषय) एवं संदिग्ध (संशयग्रस्त) पदार्थके निर्णयके लिये ही लोकेषणादि समस्त एषणासे रहित, भगवान् व्यासजीको 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि शास्त्रका प्रारम्भ करना चाहिये, परन्तु अत्यन्त अज्ञात, ब्रह्म विषयक जिज्ञासा तथा तादृश ब्रह्म विषयक संदेह शिष्यको कैसे हो सकेगा ?। क्योंकि-जिज्ञासा और संदेह धर्मीके ज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृतमें ब्रह्म धर्मी है। ब्रह्मको रूपादिसे रहित होनेके कारण; तथा अद्वितीय वस्तुमें लिङ्ग (हेतु) का अस-

ब्रह्मणि न प्रत्यक्षादिना सम्भवति, रूपादि हीनत्वात्तस्य अद्वितीये तस्मिन् लिंगासम्भवाच्च। अद्वयमेव हि ब्रह्म मुमुक्षुंप्रति शारीरकेण विचार्यते। सगुण ब्रह्मविचारस्याप्रासङ्गिकत्वात्। नापि वेदान्ताच्चज्ज्ञानम्। विचारात्पूर्वं ततस्तदयोगात् अन्यथा विचार वैयर्थ्यात्। न चापातज्ञानं विचारं विनाऽपि भवतीति वाच्यम्। तस्यैवानिरूपणात्। निःसामान्यविशेषे ब्रह्मणि सामान्यविषयस्य तस्यासम्भवात् अपरोक्षे ब्रह्मणि परोक्ष ज्ञानरूपस्य तस्यायोगात्। अतः शिष्यस्य जिज्ञासाऽसम्भवात् अजिज्ञासितार्थनिर्णये प्रेक्षावतः प्रवृत्त्ययोगादसङ्गतैव शारीरकमीमांसेति तदर्थविषयमिदं प्रकरणं सुतरामसङ्गतमित्याशङ्क्य।

विचारात्प्रागपि वेदान्तादेवाधिकारिणो विदितपदतदर्थस्य निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्काररूपं ज्ञानं भवत्येव। तच्च श्रोतुरसम्भावनाविपरीतभावनादिचित्तदोषैः प्रमाणमप्यप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितमित्यनभ्यास दशापन्नजलज्ञानवत्फलाय न भवतीति ततो विचारप्रयोजिका शिष्यस्य जिज्ञासोपपद्यत इति नोकासांगत्यमित्यभिप्रेत्य सदृष्टान्तमाह चतुर्भिः—

म्भव होनेके कारण निर्विशेष-ब्रह्मका ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे नहीं हो सकता है। वस्तुतः सगुण ब्रह्मके विचार को प्रसङ्ग प्राप्त होनेसे केवल अद्वैत ब्रह्मका ही शारीरक शास्त्र द्वारा मुमुक्षुके प्रति विचार किया जाता है। वेदान्त (उपनिषद्) से भी धर्मी (ब्रह्म) का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि—विचारसे प्रथम वेदान्तसे भी ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, यदि विचारके बिना केवल वेदान्तसे ब्रह्मज्ञान हो जाय, तो विचार व्यर्थ हो जाता है। 'आपात (संशयविपर्ययग्रस्त) ज्ञान, विचारके विना भी वेदान्तसे हो जायगा' ऐसा भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि—अबतक आपात ज्ञानका भी निरूपण नहीं हुआ है। सामान्य-विशेष रहित ब्रह्ममें, सामान्य विषयक ज्ञान रूप, तथा अपरोक्ष ब्रह्ममें परोक्ष ज्ञानरूप भी आपातज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये शिष्यकी जिज्ञासाका सम्भव न होनेके कारण अजिज्ञासित-अर्थके निर्णयमें प्रेक्षावान् (ऊहापोहकुशलबुद्धिवाला) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, अतः शारीरक मीमांसा असंगत है अर्थात् शारीरक मीमांसा की रचना व्यर्थ है। जब शारीरक मीमांसा मूल असंगत हो गया, तब उसके अर्थ विषयवाला यह प्रकरण संक्षेपशारीरक भी सुतरां असंगत है ?

समाधान—विचारसे प्रथम भी पद पदार्थके जाननेवाले, साधन सम्पन्न अधिकारीको वेदान्तसे निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्काररूप ज्ञान होता ही है। तथापि अनभ्यास (नवीन) दशामें होनेवाले जल-ज्ञानकी तरह वह वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न प्रामाणिक ज्ञान भी श्रोताके असंभावना (संशय) विपरीतभावना आदि-चित्तके दोषोंसे अप्रामाण्य की शंका रूप कलंकसे युक्त होनेके कारण, अपने फल (अविद्यानिवृत्ति) को उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं होता है। इसलिये विचार को उत्पन्न करनेवाली शिष्य की जिज्ञासा उपपन्न हो

सकती है। अतः शंकामें कहा हुआ असांगत्य (अयुक्तता) दोष नहीं हो सकता है। इस समाधानको हृदयमें रखकर ग्रन्थकार दृष्टान्तपूर्वक चार श्लोकोंसे समाधान प्रकट करते हैं—

पुरुषापराधमलिना धिषणा, निरवद्यचक्षुरुदयाऽपि यथा।
न फलाय भच्छुविषया भवति, श्रुतिसम्भवाऽपि तु तथात्मनि धीः ॥१४॥

जैसे निर्दोष-चक्षुसे उत्पन्न होनेवाला भच्छु (राज मन्त्री) का ज्ञान विपरीत-भावना आदि दोषसे मलिन (तिरस्कृत) होनेके कारण निश्चयरूपी फलके लिये समर्थ नहीं हो सका था। तद्वत् श्रुति (वेदान्त) से उत्पन्न होनेवाला आत्म ज्ञान भी अधिकारी-पुरुषके अपराध (असंभावना आदि दोष) से मलिन होनेके कारण अविद्या निवृत्तिरूपी फलके लिये समर्थ नहीं हो सकता है ॥ १४ ॥

पुरुषापराधेति। पुरुषस्य = प्रमातु रसम्भावनादिलक्षणेनापराधेन मलिना = अप्रामाण्यशंकया कलङ्किता, न तु प्रमाणस्यापराधेन, तस्य दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च निर्दोषत्वात्। ननु—निर्दुष्टप्रमाणजन्यं ज्ञानम्, अप्रामाण्यशंकावशादध्यासं न निवर्तयतीति क्व दृष्टमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—निरवद्येति।

पुरुष यानी प्रमाता (प्रमाणका आश्रय-जीव) के असम्भावनाआदि-अपराध (दोष) से बुद्धि (ज्ञान) अप्रामाण्यकी शंकासे कलंकवाली हो जाती है, प्रमाण (चक्षु-शब्दादि) के अपराधसे बुद्धि कलंकित नहीं होती है, क्योंकि—भच्छुके दृष्टान्तमें चक्षु प्रमाण तथा सिद्धान्तमें आत्मज्ञानजनक शब्द-प्रमाण निर्दोष हैं।

शंका—निर्दोष-प्रमाणसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, अप्रामाण्यकी शंकाके प्रभावसे अध्यासकी निवृत्ति नहीं करता है, यह किस स्थलमें देखा गया है?

समाधान—'निरवद्य' इत्यादिसे दृष्टान्त बतलाते हैं—

भच्छुर्नाम कश्चित्कस्यचिद्राज्ञोऽत्यन्तं वल्लभो ब्राह्मणो राजोपजीविभिर्मात्सर्याद्द्विष्यमाण आसीत्। स कदाचित्तै र्दैवयोगान्नेत्रे पिधायारण्ये क्षिप्तश्चिरं तत्र स्थितो दैवयोगेनारण्यकैः सह पुरसमीपमागतो-

किसी राजाका अत्यन्त प्रिय भच्छु नामका कोई ब्राह्मण था, उसके ऊपर राजाके अन्य अनुयायी लोग मात्सर्य-दोषसे द्वेष करते थे। किसी समय दैवयोगसे उन लोगोंने भच्छुका आंख बांधकर जंगलमें पटक दिया। वह बहुत समय जंगलमें रहा। किसी समय जंगलवासी मनुष्योंके साथ नगरके समीप भच्छु आया, तथापि राजाके उन भच्छुद्वेषी अनुयायिओंने नगरका मार्ग रोक

ऽपि विद्वेषि राजकीयावरुद्धपुरमार्गः पुरं प्रवेष्टुं न शशाक। राजा च 'भच्छुर्मृतः प्रेतोजातः' इति तैः प्रबोधितः सन् तथैव निश्चयमकरोत्। दैवात्कदाचि द्वर्हिर्गतो बाह्योपवने तं दृष्ट्वाऽपि ब्रह्मराक्षसं मेन इति।

दिया, इसलिये भच्छु नगरमें प्रविष्ट न हो सका। 'भच्छु मर गया है और मर कर प्रेत बना है' इस प्रकार राजा को उन द्वेषी लोगोंने समझा दिया, और राजाने भी वैसाही निश्चय कर लिया। दैवयोगसे कदाचित् राजा घूमने फिरनेके लिये बाहर गया, और बाहरके बगीचेमें भच्छुको देखा परन्तु प्रत्यक्ष देखकरके भी राजाने भच्छु को ब्रह्मराक्षस माना।

'यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्' (छां ६।१४।१) इत्यादि श्रुतिमूला ग्रन्थ कर्तुरेषा प्रसिद्धिः।

हे प्रियदर्शन ! जैसे गन्धारदेशसे बद्ध नेत्र वाले-पुरुषको लाकर उसको मनुष्य रहित जंगलमें छोड़ देवे' इत्यादि श्रुतिको ही ग्रन्थकारने भच्छुके दृष्टान्तकी प्रसिद्धि में मूल माना है।

यथा भच्छुविषया निर्दोषचक्षुर्जनिता प्रमाणभूताऽपि मतिः 'मृतो भच्छुर्द्रष्टुमयोग्य एव किन्तु प्रेत एवायं दृश्यते' इत्यसम्भावनाविपरीत भावनारूप पुरुषदोषेणाभिभूता 'भच्छुरेवायम्' इतिनिश्चय फलाय पर्याप्ता न भवति, तथा निर्दोष वेदान्त महावाक्य जन्या प्रमाण भूताऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इति धीः 'वेदान्ता ब्रह्मपरा न भवन्त्येव' 'ब्रह्म अद्वितीयं न सम्भवत्येव' 'संसार्यं संसारिणोरैक्यं न सम्भवत्येव' इत्यसम्भावनाविपरीत भावनारूप पुरुषदोषाभिभूता विचारात्प्रागज्ञानादि निवृत्तिफलाय न पर्याप्ता भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

जैसे "भच्छु मर गया है, मनुष्यरूपसे दीखनेके लिए अयोग्य ही है, परन्तु प्रेतरूपसे ही यह दीखाई पड़ रहा है" ऐसे—असम्भावना एवं विपरीत-भावनारूप पुरुष के—दोषसे—तिरस्कृत हुआ—ज्ञान—निर्दोष चक्षुरूप प्रत्यक्षप्रमाणसे उत्पन्न, भच्छु विषयक, प्रामाणिक 'यह भच्छु ही है' इसप्रकारके निश्चयरूपी फलके लिये समर्थ नहीं होसकता, तद्वत् "वेदान्त (उपनिषत्) ब्रह्ममें तात्पर्यवाले हैं ही नहीं, ब्रह्म अद्वितीय नहीं होसकता है, संसारी जीव, और असंसारी ब्रह्मका अभेद नहीं होसकता है" ऐसे—असम्भावना तथा विपरीत-भावनारूप पुरुषके दोषसे तिरस्कृत हुआ—निर्दोष वेदान्तके महावाक्यरूप शब्द-प्रमाणसे उत्पन्न, 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक, प्रामाणिक ज्ञान भी, विचारसे प्रथम अज्ञान और अज्ञान कार्य द्वैत-प्रपञ्च की निवृत्ति (अत्यन्ताभाव) रूपी फलके लिये समर्थ नहीं होसकता है, यह निचोड़ अर्थ है ॥१४॥

मानमेययोरुपनिषद्ब्रह्मणोर्निर्दोषत्वात्परिशेषात्प्रमातृदोष एव फलप्रतिबन्धक इति शास्त्रीयेण विचारेण तस्यापगमे सति अप्रामाण्यशङ्कारूपप्रतिबन्धाभावात् पुनस्तस्मादेव निर्दोष वेदान्तवाक्यात्सफला धीरुदेति। यथा भच्छुं दुर्जनैररण्ये प्रक्षिप्तो जीवन्नेव पुनरागत इत्युपपत्त्या भच्छुज्ञानाप्रामाण्य-

जैसे 'दुष्टोंने भच्छुको जंगलमें पटक दिया था जीता ही पुनः यहाँ आया है' इसप्रकारके सयुक्तिक कथनसे भच्छु विषयक ज्ञानमें अप्रामाण्य शंकाका कारण, असंभावनादि पुरुष-दोषकी निवृत्ति होनेपर भच्छुविषयक 'यह भच्छु ही है' ऐसा अज्ञाननिवर्त्तक सफल ज्ञान

शङ्काकारणपुरुषापराधविगमे सति तद्विषया 'अच्छुं-रेवायम्' इति सफला धीरुदेतीत्याह—

उत्पन्न होता है। तैसेही उपनिषद्‌रूप प्रमाण तथा ब्रह्मरूप प्रमेयको निर्दोष होनेके कारण, परिशेषसे अविद्यानिवृत्ति रूपीफलका प्रतिबन्धक, प्रमाताका असंभावनादि दोष ही है; वेदान्त शास्त्रके विचारसे उस प्रतिबन्धककी निवृत्ति होनेपर अप्रामाण्यकी शंकारूप प्रतिबन्धकके भी न होनेसे फिर उसी ही निर्दोषवेदान्त-वाक्यसे सफल आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न होता है। यह बात इस निम्नलिखित श्लोकसे कहते हैं—

पुरुषापराधविगमे तु पुनः प्रतिबन्धकव्युदसनात्सफला।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावकाद्भवति धूमलता॥ १५॥

जैसे धूमकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि एवं मन्त्रादिके निवृत्त होनेपर अग्निसे लताके समान आकारवाला-धूम उत्पन्न होता है। तद्वत् असम्भावनादि पुरुष दोषके निवृत्त होनेपर अप्रामाण्यशङ्कारूप प्रतिबन्धकसे रहित होनेके पश्चात् वेदान्त वाक्यजन्य ज्ञान सफल (अविद्या निवर्तक) हो जाता है॥ १५॥

पुरुषापराधेति। अत्रानुरूपं दृष्टान्तान्तरमाह—मणीति। तु शब्दोऽवधारणे। मणिमन्त्रयोर्धूमोत्पत्तिप्रतिबन्धकयोरपगमे सत्येव लताकारो धूम उद्भवति पावकात् सदा धूमजननसमर्थान्नान्यथा यथा तथेहापीत्यर्थः॥ १५॥

पुरुषापराधेति। यहां सिद्धान्तकेअनुकूल अन्य दृष्टान्त कहते हैं—मणीति—श्लोकके 'तु' शब्दका एव (निश्चय) अर्थ है। धूमकी उत्पत्तिके प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि तथा मन्त्रादिके निवृत्त होनेपर सदा धूम उत्पत्तिकी शक्तिवाले अग्निसे ही लताके समान आकारवाला धूम उत्पन्न होता है। मणि आदि प्रतिबन्धकके विद्यमान कालमें अग्निसे धूम उत्पन्न नहीं होता है। इस दृष्टान्तके अनुसार दार्ष्टान्तिकमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये, यह अर्थ है॥ १५॥

भवतु पुरुषापराधविगमात्सफला धीस्तावता विचारशास्त्रस्य किमागतमित्यत्राह—

शंका—पुरुषदोषके निराससे ज्ञान सफल हो, परन्तु इतने कथनसे विचार शास्त्रका प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ?

समाधान—निम्न-लिखित श्लोकसे उत्तर कहते हैं—

पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः, सकलो विचार इति वेदविदः।
अनपेक्षतामनुरुध्य गिरः, फलवद्भवेत्प्रकरणं तदतः॥१६॥

"वेदकी अनपेक्षता (स्वतः प्रामाण्य) का बाध न करके समस्त विचार, (धर्म व ब्रह्म विषयक) पुरुष दोषकी विशेषरूपसे निवृत्तिरूपी फल वाला है" ऐसा वेदवेत्तालोग कहते हैं, इसलिये ब्रह्मविचाररूप यह संक्षेप शारीरक-प्रकरण ग्रन्थ भी सफल हो जाता है ॥ १६ ॥

पुरुपेति । सकल इति । धर्मविषयो ब्रह्मविषयश्चेत्यर्थः । वेदविदः=शबरस्वामिप्रभृतय आहुः, धर्मजिज्ञासासूत्रव्याख्यायाम्, अर्थादिति शेषः । तेषामेतदभिप्राये प्रमाणमाह-अनपेक्षतामिति । प्रथमतन्त्रे ह्यौत्पत्तिकसूत्रे—लोके शब्दस्य प्रमाणान्तरमूलस्यैव प्रामाण्यात्तदभावेऽनाप्तवाक्यवद् वेदाप्रामाण्यमाशङ्क्य अनाप्तवाक्यस्याप्रामाण्यं न मूलाभावकृतं किन्तु दुष्टपुंमूलतया दुष्टत्वेन स्वभावप्रयुक्तप्रामाण्य प्रतिबन्धात् । वेदे तु पदपदार्थसम्बन्धस्य नित्यतया अत एव वाक्यार्थसम्बन्धेऽन्यानपेक्षणाद्वेदस्वरूपस्यापौरुषेयत्वाच्च न पुरुषमूलतेत्यनपेक्षत्वेन-स्वतः प्रामाण्यमुक्तम् ।

पुरुपेति । धर्म विषयक तथा ब्रह्मविषयक समस्त विचार पुरुषदोषकी निवृत्तिके लिये है । इस अर्थको पूर्व मीमांसाशास्त्रके भाष्यकार शबरस्वामी आदि वेदवेत्तालोग 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस प्रथमसूत्रकी व्याख्यामें अर्थात् कहते हैं । उन-वेदवेत्ताओंके इस अभिप्रायमें प्रमाण कहते हैं—अनपेक्षतामिति ।

शंका—लोकमें अन्य-प्रमाणमूलक ही शब्दका प्रामाण्य देखनेमें आता है, अतः मूलरूप अन्य प्रमाण न होनेसे अनाप्त-पुरुषके वाक्य की तरह वेदका भी प्रामाण्य न होगा ?

समाधान—अनाप्त-पुरुषके वाक्यका अप्रामाण्य, मूल रूप-अन्य प्रमाणके न होनेसे है, यह बात नहीं है; किन्तु दोष-युक्त पुरुषसे उच्चरित होनेसे वह अनाप्त-वाक्य दुष्ट हो जाता है, अर्थात् उसके स्वाभाविक-प्रामाण्यका दोषसे प्रतिरोध (आच्छादन) हो जाता है। वेदमें तो पद-पदार्थका सम्बन्ध नित्य (अनादि) है, इसलिये वाक्यार्थके सम्बन्धमें अन्य प्रमाणादिकी अपेक्षा न होनेसे, तथा वेदके स्वरूपको अपौरुषेय होनेसे पुरुष-मूलकी भी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार पूर्व मीमांसा शास्त्र के औत्पत्तिके सूत्र (१) में अन्य-प्रमाणकी अपेक्षा न होनेके कारण वेदका स्वतः प्रामाण्य कहा है ।

तद्यदि विचारादिकमपेक्ष्य वेदोऽर्थं प्रतिपादयेत्तर्हि सापेक्षतया तस्यानपेक्षत्वं बाधितं स्यादिति

वेद यदि विचारादिकी अपेक्षा करके अर्थका प्रतिपादन करे, तो सापेक्ष होनेके कारण वेदका अनपेक्षत्वरूप स्वतः प्रामाण्य बाधित हो जायगा, परन्तु समस्त

(१) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् (पू० मी० १।१।५) शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध स्वभाविक है, अर्थका ज्ञान उपदेश है अभेद ही वेदका अर्थ है । अज्ञात अर्थमें ही शब्द प्रमाण है, अतः व्यासके मतमें शब्दका अनपेक्षस्वरूप स्वतः प्रामाण्य है ।

सर्वोऽपि विचारःप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्र हेतुरिति सर्ववेदवित्संमतमित्यर्थः । गिरो = वेदस्यानपेक्षताम् 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् (पू०मी०(१।१।५) इत्यत्र प्रतिपादितामनुपरुध्याबाधित्वा सकलो विचारः पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः, इति वेदविद आहुरिति सम्बन्धः ।

विचार, पुरुष दोषरूपी प्रतिबन्धकी निवृत्तिमें ही एक मात्र कारण है, अर्थात् वेद अपने अर्थके प्रतिपादनमें विचारकी अपेक्षा नहीं करता है। विचार तो सिर्फ प्रतिबन्धके निरासमें ही चरितार्थ हो जाता है, यह निर्णय सभी वेदवेत्ताओंको सम्मत है। यह तात्पर्यार्थ है। "प्रमाणान्तरसे अज्ञात अर्थमें ही वेद प्रमाण है. अतः वेद प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता यह बादरायण (व्यास) आचार्यका मत है" इस सूत्रमें प्रतिपादित— 'गिरोयानी वेदकी—अनपेक्षताका बाध न करके समस्त विचार पुरुषापराधकी निवृत्तिरूप फल वाला है' ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं, यह अन्वय है ।

विचारस्य प्रतिबन्धनिवृत्तिसाधनत्वे फलितमाह—फलवदिति । अत इति प्रतिबन्धनिरासित्वाभ्युपगमादित्यर्थः । प्रकृष्टं करणं = निर्माणं यस्य विचारशास्त्रस्य तदित्यर्थः । अथवा उक्तरीत्या शारीरकारम्भे निर्दुष्टेसति तदर्थाविष्करणाय प्रकृतप्रकरणं फलवदित्यर्थः ॥ १६ ॥

विचारको प्रतिबन्ध निवृत्तिका साधन-सिद्ध होने पर फलित अर्थ कहते हैं—फलवदिति । 'विचारको प्रतिबन्धनिवृत्तिका करण स्वीकृत होनेसे' यह श्लोकगत 'अतः' का अर्थ है। प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) करण यानी निर्माण है, जिस विचार शास्त्रका, उसका नाम 'प्रकरण' है। अथवा—पूर्वोक्त रीतिसे शारीरक-मीमांसाका आरम्भ निर्दोष-सिद्ध होनेपर, शारीरकके अर्थको प्रकट करनेके लिये यह प्रकृत संक्षेपशारीरक नामक प्रकरण भी सफल है, यह अर्थ है ॥ १६ ॥

प्रतिबन्धनिवृत्तेरहेतुत्वे स्वतोऽपुरुषार्थत्वेच कथं तन्निष्ठं प्रकरणं फलवदित्या-शङ्क्य विवक्षितकार्यविरोधिनि तदनुत्पादस्याग्रिमसमयसम्बन्धप्रयोजके प्रतिबन्धके सति समर्थात्कारणसहस्रादपि कार्यानुदयाद्दर्शिताग्रिम समयसम्बन्धाभावसंपादकतयाऽन्यथासिद्धोऽपि प्रतिबन्धकाभावः कार्येण स्वोत्पत्तयेऽपेक्ष्यते इति प्रक-रणं तन्निष्ठमपि फलवदित्याह—

शंका—प्रतिबन्ध-निवृत्ति (अभाव) को किसीका कारण न होनेसे तथा स्वतः पुरुषार्थ न होनेसे, प्रतिबन्ध-निवृत्तिका प्रयोजक विचारात्मक यह प्रकरण कैसे सफल है ?

समाधान—अभिप्रेत कार्यका विरोधी-कार्यानुत्पाद (कार्यकी उत्पत्तिका अभाव) का सामग्रीक्षणसे अगलेक्षणके साथ सम्बन्धका प्रयोजकरूप—प्रतिबन्धकके होनेपर, सामर्थ्यवाले हजारों कारणोंसे भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः यद्यपि कार्यानुत्पादका अगले क्षणके साथ सम्बन्धके अभावका साधक होनेसे

प्रतिबन्धकाभाव अन्यथा सिद्ध हो जाता है, तथापि कार्य, अपनी उत्पत्तिके लिये प्रतिबन्धकाभावकी अपेक्षा करता ही है, अतः प्रतिबन्धनिवृत्तिका प्रयोजक विचार-रूप यह प्रकरण भी सफल है, यह कहते हैं—

पुरुषापराधशतसंकुलता विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः ।
स्वयमेव वेदशिरसो वचनादथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला ॥१७॥

वाणी (वेदशास्त्र) का प्रतिबन्धरूप जो पुरुषके सैंकड़ो अपराधोंका समुदाय है वह इस विचार-रूप प्रकरणसे निवृत्त हो जाता है. अपराध निवृत्तिके अनन्तर वेदान्तके महावाक्यसे स्वयं ही मुक्ति रूपी फलका साधक आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१७॥

पुरुषापराधशतेति । शास्त्रेणैव प्रतिबन्धस्य निरस्तत्वात्किं प्रकरणेनेत्या-शङ्क्य पुरुषदोषाणामनन्तत्वात् 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (ब्र० सू०४।१।१) इति-न्यायेन तत्सार्थक्यमुक्तम्-शतेति ।

शंका—जब शास्त्र (शारीरक-मीमांसाशास्त्र) ने ही प्रतिबन्धका निरासकर दिया है, तब इस प्रकरणका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—पुरुषके दोषरूप प्रतिबन्धोंको अनन्त होनेके कारण यह प्रकरण भी सार्थक है । 'उपनिषदोंमें ब्रह्मचिन्तनकी आवृत्तिका बारबार उपदेश होनेसे ब्रह्मचिन्तनकी बार बार आवृत्ति करनी चाहिये ।' यह सूत्र भी इस प्रकरणकी सार्थकतामें प्रमाण है ।

गिरो = वेदलक्षणायाः शास्त्रलक्षणायाश्च। स्वयमेव इतरासहकृतादेव । अथ = प्रतिबन्धनिवृत्त्यनन्तरं मुक्तिफला विद्या वेदशिरसोवाक्यादुद्भवति । अभ्यासदशायां केवलाच्चक्षुष इव जलज्ञानम्, अतोनसापेक्षत्वमित्यर्थः। पुरुषापराधाकुलत्वं चाप्रामाण्यशङ्कैवेत्युक्तं जिज्ञासापूर्वक विचारहेत्वापातज्ञानोपपादनम् । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १७ ॥

गिरोका अर्थ है—वेदरूपा तथा शास्त्ररूपा वाणी। स्वयमेवका अर्थ है—अन्यकी सहायताकी अपेक्षा न करके। अथ यानी प्रतिबन्धकी निवृत्तिके अनन्तर, वेदान्तके महावाक्यसे मुक्तिरूपी फल वाली ब्रह्मविद्या उत्पन्न हो जाती है । अभ्यास दशामें जैसे केवल नेत्रसे जल का ज्ञान हो जाता है, तद्वत् । विचारके परिपक्व होने पर केवल-महावाक्यसे सफल ब्रह्मविद्या प्रकट हो जाती है, इसलिये वेदान्तवाक्यको अन्य-की अपेक्षा नहीं है, यह निचोड़ अर्थ है । अप्रामाण्यकी शंकाही पुरुषापराधाकुलत्व है । यह जिज्ञासा पूर्वक विचारका कारण आपात (संशयादिग्रस्त) ज्ञानका युक्तिसे प्रतिपादन किया है । इस श्लोकका 'प्रमिताक्षरा' छन्द है ॥१७॥

नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां तात्पर्यज्ञानं वाक्यार्थज्ञानहेतुः शक्तिज्ञानवत्तच्च विचाराधीनमिति चेत्तत्राह—

शंका—अन्वय व्यतिरेकसे शक्ति-ज्ञानकी तरह वाक्यार्थ ज्ञानका कारण तात्पर्य ज्ञान भी है, और वह तात्पर्यज्ञान विचारके आधीन है, अर्थात् 'प्रतिबन्ध निवृत्तिही विचारका फल है' यह नियम नहीं है, किन्तु तात्पर्यज्ञान द्वारा वाक्यार्थ ज्ञानभी विचारका फल हो सकता है ?

इस शंकाका समाधान निम्नलिखित श्लोकसे कहते हैं—

स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो, नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ।
सापेक्षताऽऽपतति वेदगिरस्तथात्वे, ब्रह्मात्मनः प्रमिति जन्मनि तन्न युक्तम् ॥१८॥

ब्रह्म ज्ञानकी उत्पत्तिमें वेदवाक्यकी तरह विचार, करण (प्रमाण) नहीं हो सकता है, तथा वेदवाक्यका सहायक अंग भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—विचारको करण तथा अंग माननेपर वेदवाक्य सापेक्ष हो जाता है। अर्थात् वेदवाक्यमें निरपेक्षत्वरूप स्वतः प्रामाण्यका भंग हो जाता है, इसलिये ब्रह्मात्माके ज्ञानकी उत्पत्तिमें वेदवाक्यका सापेक्षत्व युक्त नहीं है ॥१८॥

स्वाध्यायवदिति । स्वशाखागत वेदवाक्य वदित्यर्थः । घटते = युज्यते, अस्य = स्वाध्यायस्य ।

किं विचारो वेदान्तवाक्यवत्तदर्थज्ञाने करणम्, उताङ्गं, नाद्यः, प्रत्यक्षादिवद्विचाराख्य प्रमाणस्याप्रसिद्धत्वात्तर्करूपस्य तस्य प्रमाणानुग्राहकत्वेन स्वतोऽप्रमाणत्वात्, वाक्यकरणक ज्ञानस्य करणान्तरानपेक्षत्वाज्ज्ञानान्तरस्य चासत्वात् । द्वितीये च न प्रोक्षणादिवदाग्नेयादेर्वेदस्य विचारः स्वरूपोपकार्यङ्गं, तद्वदत्र श्रुत्यादि विनियोजकाभावात्स्वाध्यायस्वरूपस्य स्वतः सिद्धत्वेन तत्रानुपयोगाच्च ।

'स्वाध्यायवद्' का अर्थ 'अपनी शाखाके वेदवाक्यकी तरह' है । 'घटते' का अर्थ 'युक्त' होता है । अस्यका अर्थ 'स्वाध्यायका' है ।

प्रश्न—वेदान्त वाक्यके अर्थ (ब्रह्म) ज्ञानमें वेदान्तवाक्यकी तरह विचारको भी करण अथवा अङ्ग अवश्य मानना चाहिये ?

उत्तर—वेदान्त-वाक्यकी तरह वेदान्त-वाक्यके अर्थज्ञानमें विचार क्या करण (प्रमाण) है ? अथवा वेदान्तप्रमाणका अङ्ग (सहायक) है ?

'विचार करण है' यह प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि—प्रत्यक्षादि प्रमाणकी तरह विचार नामक पृथक् प्रमाण प्रसिद्ध नहीं है। विचार तर्करूप है, अत एव विचारको प्रमाणोंका अनुग्राहक (सहायक) होनेके कारण विचार स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता है। (क्रमशः)

ग्राहकोंको-सूचना

मनीआर्डर तथा वी० पी० के रुपये भेजनेका पूरा पता—

स्वा० बालानन्दजी विश्वनाथ व्यवस्थापक

अपारनाथ मठ, ढुण्ढिराज गणेश

(काशी) बनारस सिटी

इस पूरे-पतेसे ही ग्राहक-अनुग्राहकोंको वार्षिक चन्देके रुपैये भेजने चाहिये—

विश्वनाथके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं धर्म सम्बन्धी विषयों द्वारा जनता जनार्दनकी सेवा करना, और उपरोक्त विषयों पर पुनः पुनः विवेचन करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

नियम

(१) यह पत्र प्रत्येक मासकी शिवरात्रि (कृष्ण चतुर्दशी) को प्रकाशित होता है। विश्वनाथका वर्ष फाल्गुनकी महाशिवरात्रिसे आरम्भ होकर माघमें समाप्त होता है।

(२) इस पत्रके हिन्दी विभागका डाकव्ययके सहित वार्षिक मूल्य २) रु० और गुजराती विभागका २॥) रु० मात्र भारतवर्षके लिये है, वार्षिक मूल्य अग्रिम लिया जायगा। लायब्रेरी, छात्र एवं धार्मिक संस्थाओं को केवल १॥) में दिया जायगा। एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) कार्यालयसे विश्वनाथपत्र २–३ बार जाँच करके भेजा जाता है। परन्तु किसी कारणवश किसी मासका **विश्वनाथ** ठीक समयपर न पहुँचे तो ग्राहकोंको अपने २ डांकघरसे ही प्रथम पूछताछ करनी चाहिये। डाकघरसे मिला हुआ उत्तर उसी महीनेकी पूर्णमासीके भीतर कार्यालयमें आजाना चाहिये। जिससे ग्राहकोंकी सेवामें न पहुँचा हुआ अंक भेज सकें।

(४) इस पत्रमें किसी प्रकारके विज्ञापन किसी भी दरपर स्वीकार न किए जाँयगे।

(५) जो महानुभाव कमसे-कम एकवार १२५) रु०से इस पत्रकी सहायता करेंगे, वे महानुभाव स्थायी संरक्षक माने जायेंगे।

और जो महानुभाव कमसे-कम २५) रु० सहायता देंगे, वे इस पत्रके संरक्षक माने जायेंगे। तथा जो भगवद्भक्त कमसे-कम ५) सहायता देंगे, वे भी इस धार्मिक पत्रके सहायक माने जायेंगे। और वर्षमें एक दफे पत्रमें संरक्षक-सहायकोंकी नामावली प्रगट की जायगी।

(६) थोड़े समयके लिये पता बदलवाना होतो अपने पोस्ट-मास्टरकोही लिखना चाहिये। अधिक समयके लिये पता बदलनेकी सूचना हिन्दी महीनेकी पूर्णमासी तक कार्यालयमें आजानी चाहिये।

(७) ग्राहकोंको अपना नाम पता साफ साफ लिखते हुए ग्राहक नम्बर पत्र-व्यवहार करते समय अवश्य लिखना चाहिये, और पत्रोत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना जरूरी है।

(८) मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डरके कूपन पर रुपयोंकी तादाद, भेजनेका मतलब, पूरा नाम मय पता, ग्राहक नम्बर आदि सब बातें साफ साफ लिखनी चाहिये। प्रवन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक–विश्वनाथ पत्र'** के नामसे तथा लेख परिवर्तनके पत्र और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक–विश्वनाथ पत्र' विश्वनाथ-पत्र कार्यालय ढुण्ढिराज गणेश, बनारस सिटी** के नामसे भेजने चाहिये।

(९) विश्वनाथमें छपनेवाले लेख लेखकोंकी ही जिम्मेवारी पर छपेंगे।

Regd. No. A, 2865

हाय ! तृप्ति कैसे हो ?

(लेखक--ब्रह्मनिष्ठपरमहंसस्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

(भुजंगी छन्द)

(१)

हजारों सुनी मैं कहानी सुवानी,
सुनी सैकड़ों ही कथायें पुरानी।
किसी की बुराई किसी की भलाई,
सुनी नित्य तो भी नहीं तृप्ति पाई॥

(२)

सदा मञ्च पे नर्म गद्दे बिछाये,
किया प्यार बच्चे गलेसे लगाये।
रहा धारता पुष्प माला सदाई,
नहीं स्पर्शसे आज लों तृप्ति पाई॥

(३)

अनेकों तमाशे लिये देख आंखों,
अनोखी अनोखी लखीं वस्तु लाखों।
लई सुन्दरी देख देवाङ्गना सी,
नहीं देखने की अभी चाह नाशी॥

(४)

अलोनी सलोनी खटाई मिठाई,
रसीली तथा चर्परी नित्य खाई।
नहीं स्वाद जिह्वा सके है बताई,
अभी लों नहीं जीभ खाते अघाई॥

(५)

जुही मालती आदि सूँघा किया मैं,
मिला केवड़ा नीर पीता रहा मैं।
लगा वस्त्रमें इत्र आनन्द लूटा,
नहीं सूँघने का अभी प्रेम छूटा॥

(६)

सुनेसे छुएसे तथा देखनेसे,
नहीं तृप्ति हो चाखने सूँघनेसे।
नहीं भोग भोगे कभी तृप्ति पाई,
जिसे मांग लो दुःख दे नित्य सोई॥

(७)

सदा दुःख दें तुच्छ हैं भोग पांचों,
रहें मारते भोग हैं रोग पांचों।
निजात्मा सुधा-सिन्धु संतृप्ति-कर्ता,
परा शान्ति दाता तिहूं ताप हर्ता॥

(८)

सभी का वही तत्त्व है, साथ ही है,
उसे दूर लेने न जाना कहीं है।
हटा बाह्यसे वृत्ति अन्तर्मुखी हो,
वही होय संतृप्त सम्यक् सुखी हो॥

मुद्रक—प्रकाशक स्वामी मोहनानन्द। काशी विश्वनाथ प्रेस, दुण्ढिराज गणेश, बनारस सिटी।